CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२८५०

16.2

श्रावक प्रतिक्रमणसार

संशोधित तृतीय संस्करण

रचयिता

आचार्य कुन्थुसागर जी महाराज

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री आचार्य कुन्थुसागर जी महाराज का

* संक्षिप्त परिचय *

आपने अपने शुभजन्म से कर्णाटक प्रान्त के बेलगांव जिले के ऐनापुर नगर को पुनीत किया था। आपके पिताजी का नाम सांतप्पा और मातेश्वरी का नाम सरस्वती था। आप का शुभ जन्म वीर नि० सं० २४२० में हुआ था। आपका जन्म कालिक नाम "रामचन्द्र" था। आपकी जाति 'चतुर्थ' थी।

ये श्री १०८ पूज्य आचार्य कुन्थुसागर जी महाराज, परमपूज्य गुरु श्री १०८ श्री आचार्य शान्तिसागर जी महाराजके प्रमुख गण्य शिष्य थे। आप अपने गुरुदेवके अनुरूप शान्तस्वभावी, भद्र एवं सौम्यमुख थे।

मुनि अवस्थामें ही आपने मुनिराज श्री सुधर्मसागरजी से संस्कृत भाषा का अभ्यास किया था और फिर संस्कृत भाषामें ग्रन्थ-रचना प्रारम्भ की थी। उन्हीं रचनाओं में से एक रचना प्रस्तुत ग्रन्थ है। इस में श्रावकों के लिए प्रतिक्रमण का विधान किया है। ग्रन्थकी भाषा सरल तथा वाक्यविन्यास सुन्दर है।

स्व० पूज्य कुन्थुसागरजी महाराज के उपदेशसे गुजरात, काठियावाड़, महाराष्ट्र आदि प्रान्तों के अनेक नृपति बहुत प्रभावित हुवे थे और वे महाराज के अच्छे भक्त बन गये थे।

पूज्य कुन्थुसागर जी की मुनिचर्या निर्दोष एवं आदर्श थी। वे कषायविजयी, परिषहजयी तथा विद्वान् थे। अतः वे सदा प्रातः स्मरणीय हैं।

विनीत—

ब्र० जिनदास जैन।

जबलपुर।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Narja, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

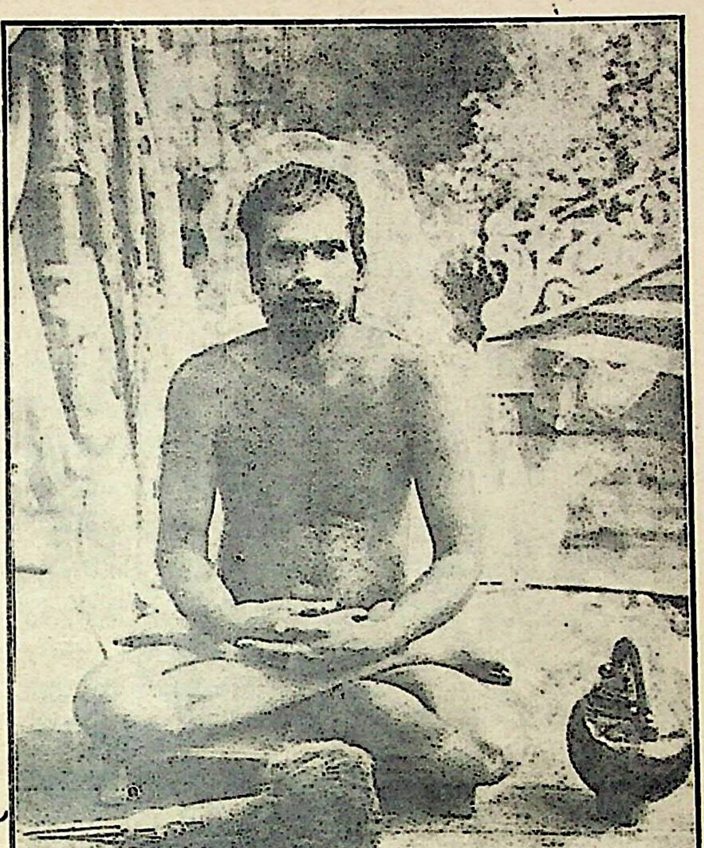

स्व० परमपूज्य दिगम्बर आचार्य-

श्री कुन्थुसागरजी महाराज।

"जैन विजय" प्रिं० प्रेस-सूरत।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषयानुक्रमणिका

१	मंगलाचरण, श्लोक संख्या—	१
२	संसारी जीवोंका स्वरूप	२
३	संसारके दुखोंके कारण	३
४	जन्म मरणकी संख्या	४
५	उदाहरणपूर्वक जन्म मरणकी संख्या	६
६	त्रसपर्यायका परिभ्रमण	८
७	पंचेन्द्रिय जीवके दुःख	१०
८	मनुष्यका कर्तव्य	१२
९	परिग्रहकी तृष्णाको घटानेका उपदेश	१४
१०	मृत्युके जीतनेका उपाय	१६
११	श्रेष्ठ गुरुको पाकर प्रमाद न करनेका उपदेश	१८
१२	मिथ्यात्व, परनिन्दा, स्वप्रशंसाका निषेध	२०
१३	अभक्ष्य भक्षणके त्यागका उपदेश	२२
१४	व्रतोंमें दोष लगनेका प्रायश्चित्त	२४
१५	कुगुरुओंके संबंधके त्यागका उपदेश	२७
१६	अपराध होने पर क्षमाका उपदेश	२९
१७	स्थावर हिंसाकी आलोचना	३०
१८	अगालित जलकी आलोचना	३२
१९	फल पुष्पादिक की विराधनाकी आलोचना	३४
२०	अशुभ कार्य करनेकी निन्दा	३६
२१	कन्दमूल भक्षण की आलोचना	३८
२२	दानधर्म आदि न करने की आलोचना	४०
२३	सावद्य आरंभ कार्यों की आलोचना	४२
२४	त्रिकाल दोषों की आलोचना	४४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२५	अरिहंतादिककी निन्दा करनेकी आलोचना	४६
२६	जिनधर्मादिके न माननेकी आलोचना	४८
२७	श्रुतज्ञानकी निन्दाकी आलोचना	५०
२८	किसीको दुःख पहुँचाने की आलोचना	५२
२९	मुनि निन्दाकी आलोचना	५४
३०	श्रावक निन्दाकी आलोचना	५६
३१	प्राणियोंको दुख पहुँचाने को आलोचना	५८
३२	अन्य कुकर्म की आलोचना	६०
३३	अन्नपान, धनहरण की आलोचना	६
३४	एक सौ आठ पापोंकी आलोचना	६४
३५	कुगुरु, कुशास्त्रकी स्तुतिकी आलोचना	६७
३६	प्रातःकाल का चिन्तवन	६९
३७	मिथ्यात्व तथा आर्तरौद्र के त्याग का उपदेश	७१
३८	एकत्व भावनाका चिंतवन	७३
३९	रत्नत्रयको धारण करनेका उपदेश	७५
४०	आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन	७७
४१	गुरुका उपकार और ग्रन्थकी महिमा	८०
४२	लघुप्रतिक्रमणकी प्रतिज्ञा	८५
४३	लघुप्रतिक्रमणमें समता	८६
४४	लघुप्रतिक्रमणमें वन्दना	८७
४५	लघुप्रतिक्रमणमें स्तुति	८८
४६	लघुप्रतिमणमें प्रतिकर्म	८९
४७	लघुप्रतिक्रमण में प्रत्याख्यान	९०
४८	लघुप्रतिक्रमणमें व्युत्सर्ग	९१
४९	प्रशस्ति	९२
५०	कल्लोल से चतुर्विधसंघ का विहार	९७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीवीतरागाय नमः

श्रीमदाचार्यवर्य श्रीकुन्थुसागर विरचित

श्रावक-प्रतिक्रमण-सार

धर्मरत्न पं० लालाराम शास्त्रिकृत

भाषाटीका सहित

मङ्गलाचरण

चतुर्विंशतितीर्थेशान्, नत्वा सकलसद्गुरून् ।
सत्प्रतिक्रमणं वक्ष्ये, गृहिणां भावशुद्धये ॥१॥

इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में सबसे पहले मैं भगवान् ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थङ्करों को नमस्कार करता हूँ। इस प्रकार अपने विघ्नों की शान्ति के लिए पंच परमेष्ठी भगवान को नमस्कार करने रूप मङ्गलाचरण करके गृहस्थों के भाव शुद्ध रखने के लिए गृहस्थों के श्रेष्ठ प्रतिक्रमण का मैं यहां निरूपण करता हूँ।

भावार्थ—मङ्गलाचरण करने का प्रयोजन विघ्नों को शान्त करना है। विघ्नों का होना पापकर्म के उदय से होता है। तथा मङ्गल का अर्थ ही पापों का नाश करने वाला है। मं शब्द का अर्थ पाप है और गल शब्द का अर्थ गलाने वा नाश करने वाला हैं। जो पापों का नाश करे उसी को मङ्गल कहते हैं। भगवान् पंच परमेष्ठी सर्वपूज्य सर्वोत्तम हैं, इसलिए इस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संसार में वे ही मंगलरूप हैं। इसी से आचार्य ने सबसे पहले पंचपरमेष्ठी को नमस्कार किया है।

संसार का स्वरूप

भीमे भवाब्धौ भ्रमता त्वया हि,
कालो ह्यनन्तश्च वृथा व्यतीतः।
प्रगाढ़ – मिथ्यात्व – वशात्तथेह,
बोधि र्न लब्धो भवभीतिहर्ता ॥२॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू अनादिकालसे अत्यंत भयङ्कर इस संसाररूपी महासागर में परिभ्रमण कर रहा है और इस प्रकार परिभ्रमण करते करते अनन्तकाल व्यर्थ ही व्यतीत हो गया। इस अनन्तकाल में भी मेरे तीव्र मिथ्यात्व कर्म का उदय रहा और इसीलिए तुझे इस संसार के जन्ममरण रूप भय को हरण करनेवाला रत्नत्रय आज तक प्राप्त नहीं हुआ।

भावार्थ—मोक्ष का साक्षात् कारण रत्नत्रय है। वह रत्नत्रय शुद्धात्म स्वरूप है। उस शुद्धात्म स्वरूप को रोकने वाला मिथ्यात्व कर्म है। इसलिए इस संसार में मिथ्यात्व के समान अन्य कोई पाप नहीं बतलाया है। वही मिथ्यात्व रूप महापाप आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रकट नहीं होने देता। इसलिए हे आत्मन्! यदि तू मोक्ष महल का अनंत-सुख प्राप्त करना चाहता है तो मिथ्यात्व का त्याग कर और रत्नत्रय को धारण कर।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संसार के दुःखों का कारण

चित्ताक्षसौख्येन त्वया हतेन,
नाराधितःसौख्यमयः स्वधर्मः।
ततो ह्यसह्यं मनसाप्यचिन्त्यं,
दुःखं च भुक्तं सहसादिजातम् ॥३॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तू आज तक इंद्रिय और मन के सुखों में ही लगा आ रहा है तथा इन काल्पनिक और झूठे सुखों में लगे रहने के कारण ही तूने आज तक अनंत सुख देने वाले आत्मा के स्वभाव रूप धर्म का आराधन नहीं किया। इसीलिए हे आत्मन् ! जिनको हम लोग कभी मन से भी चिंतवन नहीं कर सकते ऐसे अकस्मात् होने वाले वा अन्य अनेक प्रकार के असह्य दुःख तुझे भोगने पड़े।

भावार्थ—यह आत्मा रात दिन इन्द्रियों को तृप्त करने में लगा रहता है। इसके लिये यह आत्मा अनेक प्रकार के हिंसादिक पाप उत्पन्न करता है। तथा उन पापों के करने में यहां तक तल्लीन हो जाता है कि आत्मा के स्वभावरूप धर्म को सर्वथा भूल जाता है। इस प्रकार यह आत्मा पापों को तो उत्पन्न करता रहता है परन्तु पापों को नाश करने वाले धर्म को कभी धारण नहीं करता। इसीलिए यह आत्मा उन पापों का उदय होने पर अनेक प्रकार के असह्य दुःख भोगता रहता है। वास्तव में इन्द्रियों का सुख सुख नहीं है। प्राणी कल्पना से उस झूठे सुख को सुख मान लेता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देखो किसी पुरुष को अधिक मिरच वा अधिक खटाई खाने में आनन्द होता है. परन्तु अन्य कितने ही मनुष्यों को मिरच वा खटाई से अत्यन्त अरुचि होती है। यदि खटाई वा मिरच के खाने में सुख होता, तो सब को होना चाहिये, परन्तु सब को नहीं होता। जो पुरुष खटाई वा मिरच के खाने में सुख की कल्पना कर लेता है वही पुरुष उसमें सुख मानता है। इससे निश्चित होता है कि वह सुख काल्पनिक है और इसीलिए वह मिथ्या है। वास्तविक सुख तो आत्मजन्य सुख है, जो कभी नष्ट नहीं होता। अतएव हे आत्मन्! तू इन्द्रियों के मिथ्या सुखों का त्याग कर जिससे कि संसार के समस्त दुःख छूट जांय और मोक्ष के अनन्तसुख की प्राप्ति हो।

जन्म-मरण की संख्या

लोके ह्यसारे वसता त्वयेति,
जन्मादिमृत्युः कतिवारमेव ।
कृतश्च तेषां गदितुं सुसंख्यां,
शक्रो हि शक्तो न सहस्रजिह्वः ॥४॥

सामान्यजन्तोश्च कथास्ति कात्र,
ज्ञात्वेति मोहं प्रविहाय मायाम् ।
कुर्या हि शुद्धिं स्वपरात्मनां कौ,
यथा पुनः स्यान्न च जन्म मृत्युः ॥५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ—हे आत्मन्! इस असार संसार में निवास करते तूने कितनी बार जन्म-मरण किया। यदि उनकी गिनती करने के लिए हजार जिह्वाओं को धारण करने वाले इन्द्र से भी कहा जाय तो वह भी उनकी संख्या नहीं कर सकता, फिर साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या है? यही समझ कर हे आत्मन्! तू मोह और माया का सर्वथा त्याग कर तथा अपने आत्मा को सर्वथा शुद्ध कर। इस प्रकार अपने आत्मा को शुद्ध कर लेने पर संसार के अन्य जीवों को सत्पथ का प्रदर्शन करके शुद्ध कर। ऐसा करने से तुझे जन्म मरण के दुःख कभी भी नहीं भोगने पड़ेंगे।

भावार्थ—हे आत्मन्! तूने अनन्तानन्त काल तो निगोद में व्यतीत किया, जिसमें एक-एक स्वास में अठारह-अठारह बार जन्म-मरण धारण किया। यदि इन जन्म-मरणों की गिनती की जाय तो अनन्तानन्त ही होती है। यदि किसी पुण्य कर्म के उदय से वहां से निकला तो पृथ्वीकायिक, जल-कायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक और वनस्पतिकायिक आदि स्थावर काय में परिभ्रमण करता रहा! यदि किसी विशेष पुण्य कर्म के उदय से त्रसकाय में जन्म लिया तो दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय आदि विकलत्रयों में परिभ्रमण करता रहा। यदि पाँचों इन्द्रियाँ प्राप्त हुईं तो असैनी होकर परिभ्रमण किया। यदि मन भी प्राप्त हुआ तो उस मन से अनेक प्रकार के पाप उत्पन्न कर नरक आदि चारों गतियों में परिभ्रमण करता रहा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हे आत्मन्! इन सब प्रकार के परिभ्रमणों के करने में जो जन्म-मरण धारण करने पड़े हैं उनकी संख्या इन्द्रादिक भी नहीं कर सकते फिर सामान्य मनुष्य की तो बात ही क्या है? इसलिए यदि तू इन अनंतानन्त जन्ममरणों से छूटना चाहता है तो सबसे पहले मोह और माया का त्याग कर। क्योंकि इस मोह और मायाचारी से ही इस संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है। मोह और माया के त्याग स ही यह तेरा आत्मा शुद्ध होगा और आत्मा के शुद्ध होजाने से फिर जन्म मरण कभी प्राप्त नहीं होगा। जन्म मरण का प्राप्त न होना ही अनन्तसुख है और इसी को मोक्ष कहते हैं।

आगे इसी बात को उदाहरण देकर बतलाते हैं—

एकस्मिन् दुःखदे स्वासेऽष्टादशवारमेव को।
जन्म मृत्यु त्वया नित्यं, कुर्वता समयो बहुः ॥६॥
तैलिकभद्रतुल्येन, व्यतीतः क्लेशदे भवे।
त्याज्यो ज्ञात्वेति तद्धेतुं, मृत्युर्न स्यात्तथा कुरु ॥७॥

अर्थ—हे आत्मन्! तूने इस संसार में महादुःख देनेवाले एक-एक स्वास में अठारह-अठारह बार जन्म मरण किया है और इस प्रकार जन्म मरण करते हुए तूने अनंतानन्तकाल व्यतीत किया है। तैलिकभद्र के समान तेरा भी अनंतकाल महादुःखों में ही व्यतीत हुआ है। यही समझकर हे आत्मन्! उन जन्म मरण के कारणभूत मोह मिथ्यात्व और इन्द्रियों के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुखों का त्याग कर जिससे कि फिर कभी भी जन्म मरण का महादुःख मुझे न भोगना पड़े।

भावार्थ—जिस प्रकार तेली का बैल आंखों में पट्टी बांधकर घानी के चारों ओर घूमा करता है उसी प्रकार यह संसारी जीव भी मिथ्यात्व और मोह की पट्टी बांधकर इस संसार में घूमा करता है। तेली का बैल कोल्हू वा घानी के चारों ओर घूमता है और यह जीव चारों गतियों में घूमता है।

अथवा जिस प्रकार तेली का बैल घानी के चारों ओर घूमता हुआ ही अपनी आयु पूरी कर देता है, उसी प्रकार यह जीव भी निगोद में एक एक स्वास में अठारह अठारह वार जन्म मरण करता हुआ अपना अनंतकाल व्यतीत कर देता है। आंखों पर पट्टी होने से जिस प्रकार उस तेली के बैल को कुछ दिखाई नहीं पड़ता, उसी प्रकार तीव्र मिथ्यात्व वश इस जीव को भी अपने आत्मा का हित दिखाई नहीं पड़ता।

इस प्रकार इस जीव की गति ठीक तेली के बैल के समान होरही है। अन्तर केवल इतना ही है कि बैल तो इस प्रकार दस बीस वर्ष ही घूमता है परन्तु यह जीव अनन्तानन्तकाल तक बराबर घूमता है इसलिए हे आत्मन्! यदि तू इस प्रकार तेली का बैल नहीं बनना चाहता अथवा जन्म मरण से छूटना वा बचना चाहता है तो मोह और मिथ्यात्व का त्याग कर। मोह और मिथ्यात्व के त्याग से यह जीव सदा के लिए जन्म-मरण से छूट जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्रस पर्याय के परिभ्रमण का दुःख

द्वित्रीन्द्रियादि—पर्याये, कर्म—परवशात्सदा।
अन्योन्यभक्ष्यमाणस्त्वं, मृतः पादादिमर्दनात्॥८॥
स्वयं दुःखी दरिद्री सन्, कष्टं स्वायुर्व्यतीतवान्।
ततस्त्यजे हिं तद्धेतुं, वस त्वं स्वपदेऽमले॥९॥

अर्थ—इसी प्रकार हे आत्मन्! तू कर्म के अधीन होकर दोइन्द्रिय पर्याय में उत्पन्न हुआ वहां पर तूने अनेक जीवों को खाया या अनेक जीवोंके द्वारा अनेकवार तू ही खाया गया तथा कभी किसी के पैर के नीचे दवकर मर गया।

फिर कितने ही काल के वाद चींटी चींटा आदि तेइन्द्रिय पर्याय में उत्पन्न हुआ। वहाँ पर भी अनेक जीवों को भक्षण करता रहा अथवा अनेक जीवों के द्वारा भक्षण किया गया। कभी किसीके पैरके नीचे दवकर या अन्य तरह से मरा।

तदनन्तर कितने ही काल के बाद भौंरा, मक्खी आदि चौइन्द्रिय पर्याय में उत्पन्न हुआ। वहां भी अनेक जीवों को भक्षण करता रहा, अनेक जीवों के द्वारा स्वयं भक्षण किया गया अथवा अन्य किसी तरह से मारा गया।

इन सब पर्यायों में जब तक जीवित रहा तब तक महा-दुखी और दरिद्री ही बना रहा तथा बड़े दुःखों से अपनी आयु व्यतीत करता रहा। इसलिए हे आत्मन्! यदि इन सब दुःखों से बचना चाहता है तो इन पर्यायों में जन्म देने वाले कारणों का त्यागकर अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप में वासकर।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय जीवों को विकलत्रय कहते हैं। विकलत्रयों की अनेक योनियां हैं। इन योनियों में यह जीव बहुत काल तक परिभ्रमण करता है तथा अनेक प्रकार के पाप संचित करता रहता है। कभी अनेक जीवों का घात करता है, कभी अनेक जीवों को खा जाता है, और कभी अनेक जीवों के द्वारा स्वयं खाया वा मारा जाता है।

कभी पानी में बह कर, कभी अग्नि में जल कर और कभी बड़े पशुओं के पैर के तले दबकर मर जाता है। कभी कभी मिट्टी के ढेर में दबकर मर जाता है और कभी ईंट पत्थर की चोट से मर जाता है। कहां तक कहा जाय, इन पर्यायों में यह जीव कभी सुखी नहीं रहता। सदा जन्म-मरण के दुःख ही भोगा करता है।

इसके सिवाय अपने जीवन में भी सदाकाल भयभीत, दुखी वा दरिद्री बना रहता है। आत्मज्ञान के न होने से कभी भी अपना कल्याण नहीं कर सकता। यह आत्मज्ञान मनुष्य पर्याय में प्राप्त हो सकता है। इसलिये हे आत्मन्! अब तू मनुष्य-जन्म पाकर अपने आत्मा की शुद्ध पर्याय में लीन हो जिससे कि इन पर्यायों के समस्त दुःख छूट जांय और मोक्ष का अनन्तसुख प्राप्त हो जाय।

पंचेन्द्रिय जीव के दुःख

पञ्चाक्षपर्यायचये प्रमूढो,
दीनो दरिद्री विकलाङ्गधारी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रोधी प्रमादी व्यसनी विकारी,
सन्नेव पाप्माऽखिलदुःखपात्रः ॥१०॥
व्यतीतवांस्त्वं समयं ह्यनन्तं,
तथापि लब्धो न निजस्वभावः ।
ज्ञात्वेति तत्त्यागविधिं विधेयः,
स्यान्नाक्षपर्यायमति र्यतस्ते ॥११॥

अर्थ—जब किसी विशेष पुण्यकर्म का उदय होता है तब विकलत्रय की पर्याय छूटकर इस जीव को पंचेन्द्रिय की पर्याय प्राप्त होती है। पंचेन्द्रिय पर्याय को पाकर भी यह जीव अत्यन्त मूर्ख, दीन हीन, दरिद्र, अङ्गोपाङ्गों से रहित, अत्यन्त क्रोधी, प्रमादी वा आलसी होता है। अनेक व्यसन सेवन करनेवाला, मोह, मद, माया, काम आदि अनेक विकारों को धारक, महापापी और समस्त दुखों का भोक्ता होता है।

इस प्रकार हे आत्मन्! तूने अनन्तकाल व्यतीत किया, तथापि तुझे अपना निज स्वभाव प्राप्त नहीं हुआ। इन सब बातों को समझकर हे आत्मन्! तू इस प्रकार त्याग कर जिससे कि तेरी बुद्धि इन्द्रिय पर्यायरूप न हो।

भावार्थ—यह जीव जिस पर्याय में जाता है, उसी पर्याय को अपना स्वरूप मान लेता है। मनुष्य पर्याय को पाकर भी कभी कभी तो यह अज्ञानी जीव यह भी नहीं समझता कि मैं मनुष्य हूँ, मुझे मनुष्योचित कार्य ही करना चाहिए। इन सब बातों को न जान कर वह अपनी समस्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर्याय में पशुओं के समान ही अन्याय और अभक्ष्य-भक्षण करता हुआ अपना जीवन व्यतीत करता है।

यदि शुभ कर्म के उदय से अच्छे निमित्त मिल जाते हैं और पढ़ लिख जाता है, तो कुछ मानवधर्म को भी समझने लगता है, तो भी बिना आत्मज्ञान के केवल ऐहिक कार्यों में ही फँसा रहता है। आत्मज्ञान के बिना इसकी बुद्धि विपरीतरूप परिणत हो जाती है तथा विपरीतबुद्धि होजाने के कारण यह जीव अपने ऐहिक स्वार्थ में अन्धा होजाता है। केवल इन्द्रियों के सुखों के वशीभूत होजाता है। उन इन्द्रियों के सुखों की प्राप्ति के लिए अनेक अन्याय करता है। निर्बलों का नाश करता है, उनका धन लूट लेता है, उनका देश लूट लेता है तथा उनको और अधिक निर्बल बनाकर उनका नाशकर देताहै।

यदि कारणवश उस विपरीत बुद्धि में तीव्रता वा चंचलता प्राप्त हो जाती है तो फिर वह उसका प्रयोग जीवों के संहार के कार्यों में ही करता रहता है। उसके लिए अनेक प्रकार के यंत्र-तंत्र बनाता है। इस प्रकार आत्मज्ञान के बिना यह जीव अपना जीवन पापकार्यों में ही व्यतीत करता रहता है जिससे इसे नरक निगोद के दुःख भोगने पड़ते हैं।

इन दुःखों का कारण अपने आत्मा के स्वरूप का ज्ञान न होना तथा पर्याय में ही आत्मा का स्वरूप मान लेना है। इसलिए हे आत्मन्! यदि तू इन दुःखों से बचकर आत्मा के अनंत सुख में लीन होना चाहता है तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर्याय बुद्धिका त्यागकर तथा अपने आत्माके स्वरूपको समझ। आत्मा का स्वरूप समझ लेनेसे आत्माके समस्त क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कर्मजन्य विकार छूट जाते हैं। इन विकारों के छूट जाने से फिर यह आत्मा पापों से कभी लिप्त नहीं होता। इस प्रकार पापों से छूटकर यह आत्मा आत्मस्वरूप का चिंतवन कर शुद्ध आत्मस्वरूप परमात्मा बन जाता है और समस्त कर्मों को नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

मनुष्य का कर्तव्य

मिथः सदा वैरविरोधयोगा-
द्धन्ता स्वयं सन् भुवि हन्यमानः।
दुःखं च सोढुं समये ऽसमर्थः,
ततो रुदन्नेव च यत्र तत्र ॥१२॥
व्यतीतवान् हन्त वृथा निजायु-
र्ज्ञात्वेति तत्त्वाद्धिकृते विरूपम्।
त्यक्त्वा मिथो वैर-विरोधभावं,
सर्वैश्च सार्धं कुरु मैत्रिभावम् ॥१३॥

अर्थ—हे आत्मन! इस संसार में परस्पर एक दूसरे के साथ वैर विरोध रखने से कभी तो यह स्वयं दूसरे जीवों को मार देता है तथा कभी दूसरों के द्वारा स्वयं मारा जाता है। इस वैर विरोध के कारण जो दुःख भोगना पड़ता है अथवा वैर विरोध या मारपीट के कारण बँधे हुए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्मों के उदय से जो दुःख भोगना पड़ता है उसमें असमर्थ होकर यह जीव इधर उधर रोता हुआ बड़े कष्ट से अपनी आयु व्यतीत करता है। हे आत्मन्! इस प्रकार वैर विरोध रूप विकार के अशुभ रूप का यथार्थ स्वरूप समझ लेना चाहिये और फिर परस्परके वैर विरोध का सर्वथा त्यागकर।

भावार्थ—वैर वा विरोध दो प्रकार का होता है। एक जन्म से होने वाला वैर विरोध और दूसरा निमित्तकारण से होने वाला वैर विरोध। बिल्ली कुत्ता वा बिल्ली चूहे का जा वैर होता है वह जन्म से ही होने वाला वैर है। यह जन्म से होने वाला वैर विरोध पहले जन्मों के संस्कार से ही होता है। जब कभी दो मनुष्य वा पशु किसी बात पर लड़ते लड़ते मर जाते हैं तब वे दोनों ही भिन्न भिन्न परस्पर विरोधिनी योनियों में उत्पन्न होते हैं। उनमें जो वैर विरोध एक बार बँध जाता है उसका संस्कार अनेक जन्मों तक विद्यमान रहताहै।

देखो! कमठ ने स्वयं अन्याय किया था। अपने भाईकी स्त्री के साथ दुर्व्यवहार किया था। उसके प्रगट होने पर राजा ने उसको देश निकाले का दण्ड दिया था। यद्यपि उसके भाई के हृदय में बदला लेने की कोई इच्छा नहीं थी और न उसने बदला लेने का प्रयत्न ही किया था। वह तो उल्टा उससे क्षमा प्रार्थना करने गया था, परन्तु कमठ के हृदय में भाई के प्रति दुर्भावना भर रही थी। वह समझता था कि इसने ही राजा से कह कर मुझे दण्डित कराया है। इस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिये वह सदा अपना बदला लेने की धुनमें रहता था। इसी धुनमें उसने अपने प्राण छोड़े थे और उस वैर के संस्कार के कारण कई जन्म तक अपने भाई के जीव को मारता रहा था।

इससे सिद्ध होता है कि इस वैर विरोध का संस्कार अनेक जन्मों तक बना रहता है। उस संस्कार के कारण इस जीव के परिणाम सदा मलिन और पापरूप ही बने रहते हैं। इस प्रकार पापों की परम्परा बनी रहने के कारण यह जीव अनन्तकाल नरकादिक के महान दुःख भोगता रहता है। हे आत्मन्! यदि तू इन महादुःखों से बचना चाहता है तो किसीके साथ भी वैर विरोध मतकर। सबके साथ मित्रता रख।

"मुझसे किसी जीव को किसी प्रकार का दुःख न पहुँचे" इस प्रकार के परिणामों को मित्रता कहते हैं। यह मित्रता का भाव सर्वोत्कृष्ट भाव कहलाता है। इस भाव का धारक किसी प्रकार की हिंसा नहीं कर सकता, न किसी के साथ झूठ बोल सकता है, न किसी की चोरी कर सकता है, न परस्त्री—सेवन वा वेश्या—सेवन कर सकता है।

इस प्रकार एक मित्रता के धारण करने से यह जीव समस्त पापों से बच जाता है। अतएव सब प्रकार के वैर-विरोध का त्याग कर समस्त जीवों के साथ मित्रता धारण करना प्रत्येक श्रावक का कर्त्तव्य है।

परिग्रह की तृष्णा हटाने का उपदेश

पिता प्रियश्चैष सखापि बन्धु—
र्मातापि मान्या भगिनी सुशीला।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भार्या मनोज्ञा स्वजनोऽपि शत्रु-
र्दासी च दासः सचिवोऽपि सैन्यः ॥१४॥
गजाश्वहर्म्याणि — सुराज्यभारः,
न याति सार्धं किमपि त्वया हि ।
ज्ञात्वेति तेषां प्रविहाय चिन्तां
कुरु स्वशुद्धिं हि भवेत् स्वसिद्धिः ॥१५॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तेरा पिता तुझ पर बहुत प्रेम करता है, यह तेरा भाई तुझ पर प्रेम करता है, तेरी यह माननीय माता तेरा सबसे अधिक उपकार करतीहै, तेरी यह सुशीला बहिन सदाकाल तेरा भला चाहती रहती है, तेरी यह सुन्दरी स्त्री सदाकाल तुझ पर न्योछावर हुआ करती है, यह तेरे परिवार के लोग सदा तेरा उपकार करते रहते हैं। तेरा यह वन्धु, यह तेरा दास, यह दासी, यह तेरी बड़ी विशाल सेना, ये तेरे मंत्री, ये तेरे हाथी घोड़े, महल, मणियाँ, रत्न, राज्य आदि जितनी विभूति हैं वे सब तेरी शोभा बढ़ा रही हैं। परन्तु जब तेरी आयु पूर्ण हो जाती है और जब तू परलोक के लिए गमन करने लगता है, तब इनमें से कोई भी पदार्थ तेरे साथ नहीं जा सकता।

यही सब समझकर हे आत्मन्! तू सब प्रकार के परिग्रह की चिंता का त्याग कर दे तथा परिग्रह की चिंता का त्याग कर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपने आत्मा को शुद्ध कर जिससे तेरे आत्मा की शुद्धि और मोक्ष की प्राप्ति हो।

भावार्थ—इस संसार में गृहस्थावस्था एक प्रकार का जेलखाना है। जिस प्रकार जेलखाना चारों ओर से घिरा रहता है, उसी प्रकार चारों ओर से घिरा हुआ घर ही जेलखाना है। सुन्दर स्त्री पांव में पड़ी हुई वेड़ी के समान है। जिस प्रकार वेड़ी पड़ जाने से कैदी भाग नहीं सकता, उसी प्रकार स्त्री के रहते हुये प्रत्येक गृहस्थ घर को नहीं छोड़ सकता। जिस प्रकार कोई शूरवीर मनुष्य बेड़ी को तोड़कर भाग जाता है, उसी प्रकार विरला शूर-वीर पुरुष ही स्त्री का मोह छोड़कर जिनदीक्षा धारण करता है।

जिस प्रकार जेलखाने में पहरेदार पहरा लगाया करते हैं; जिससे कि कोई कैदी भाग न सके, उसी प्रकार गृहस्थावस्था में भी कुटुम्ब के सब लोग पहरेदार हैं। जिस प्रकार पहरेदार समय पूरा होने पर बदल जाते हैं उसी प्रकार समयानुसार पहरा देने के लिए पिता के स्थान पर पुत्र-पौत्र आजाते हैं।

इस प्रकार गृहस्थावस्था महादुःख का कारण है तथापि जिसप्रकार पुराना कैदी उसी जेलखाने में आनन्द मानता है, उसी प्रकार संसारी जीव अनादिकाल से इसी जेलखाने में पड़े रहने से इसीमें आनन्द मान रहा है। जब वे पुराने कैदी अपना स्वरूप समझते हैं और उन्हें अपने घर की याद आती है तब वे वहांसे भागने का प्रयत्न करते हैं, इसीप्रकार जब वह आत्मा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपने आत्मा का स्वरूप समझ लेता है और जब इसे अपने मोक्षमहल की याद आती है तभी यह जीव इस संसार से निकलने का प्रयत्न करता है।

जिस प्रकार किसी कैदी को जब दूसरे जेलखाने में ले जाते हैं तब न तो जेलखाना साथ आता है और न पहरेदार ही साथ जाते हैं। उसी प्रकार जब यह जीव दूसरी पर्याय में जाता है तब न तो घर, देश, रत्न आदि विभूति साथ जाती है और न कुटुम्ब के लोग साथ जाते हैं। यही सब समझकर जिस प्रकार कैदी उस जेलखाने की वा पहरेदारों की चिन्ता नहीं करता उसी प्रकार तू भी कुटुम्ब वा विभूति की चिन्ता मत कर। सबकी चिन्ता छोड़कर अपने आत्मा का स्वरूप चिंतवन कर। यही अपनी आत्मा की विभूति का तथा अनन्तसुख का साधन है। इसी से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

मृत्यु की विजय का उपाय

धर्मं विना मृत्युमुखात्त्रिलोके,
इन्द्रोपि चन्द्रो ह्यगदः खगेन्द्रः।
मन्त्रोऽपि मन्त्री न च यन्त्रतन्त्रं,
राजापि राज्यं वरदा च यक्षी ॥१६॥
शक्तो न च स्यादवितुं फणीन्द्रो,
ज्ञात्वेति मृत्यो र्यततां जयार्थम्।
न स्याद्यतस्ते मरणस्य चिन्ता,
हे वत्स ! चैवं मम सम्मति र्हि ॥१७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ—जब यह जीव मरने लगता है तब इसको मृत्यु के मुख से न तो इन्द्र बचा सकता है, न चन्द्र। न महावैद्य बचा सकता है, न कोई विद्याधर। न मंत्र बचा सकता है, न मंत्र को जानने वाला बचा सकता है, न यंत्र यंत्र बचा सकते हैं, न राजा बचा सकता है, न राज्य बचा सकता है, न वर देने वाली यक्षिणी बचा सकती है और न नागेन्द्र ही बचा सकता है।

धर्म के सिवाय तीनों लोकों में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो मृत्यु के मुख से इस जीव को बचा सके। एक धर्म ही ऐसा पदार्थ है जो इस जीव को मृत्यु के मुख से बचा सकता है। यही समझकर हे वत्स! हे प्रिय शिष्य! इस मृत्यु को जीतने का प्रयत्न कर जिससे तुझे फिर मरने की चिन्ता नहीं रहे। यही मेरा उपदेश है।

भावार्थ—आयु कर्म के उदय होने को जन्म कहते हैं और आयु कर्म के पूर्ण होने को मरण कहते हैं। इस शरीर की स्थिति आयु कर्म के अधीन है। जब तक आयु कर्म रहता है तब तक ही यह शरीर बना रहता है। आयु कर्म के पूर्ण होने पर यह शरीर नष्ट हो जाता है। जिस समय आयु कर्म का बन्ध होता है उसी समय उस आयु कर्म की स्थिति भी बँध जाती है। वह स्थिति कभी भी किसी अवस्था में भी बढ़ नहीं सकती। हां, निमित्त मिलने से घट सकती है वा घट जाती है। इससे यह बात सहज रीति से समझ में आ जाती है कि जब इस जीव का आयु कर्म पूर्ण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो जाता है अर्थात् यह जीव जब मरने लगता है तब इस जीव को कोइ नहीं बचा सकता।

कोई भी इन्द्र, देवेन्द्र, चक्रवर्ती, अरिहंत सिद्ध वा अन्य कोई परमेष्ठी इस जीव को मरण से नहीं बचा सकता। और की तो बात ही क्या ? ये इंद्र, देवेंद्र, चक्रवर्ती आदि भी स्वयं अपनी आयु भी नहीं बढ़ा सकते। यदि तीनों लोकों में इस जीव को मरण से कोई बचा सकता है तो एक धर्म ही बचा सकता है। धर्म सेवन करने से वा रत्नत्रय का पालन करने से अथवा तपश्चरण वा ध्यान करने यह जीव समस्त कर्मों को नष्ट कर सिद्ध वा परमात्मा बन सकता है। इस प्रकार समस्त कर्मों के साथ-साथ आयु कर्म भी नष्ट हो जाता है और उसके सर्वथा नष्ट होने से फिर कभी भी उसका बंध नहीं हो सकता। इसका भी कारण यह है कि कर्मों की स्थिति कषायों के निमित्त से होती है तथा तपश्चरण वा ध्यान करने से कषायों का सर्वथा नाश हो जाता है।

अथवा यों कहना चाहिए कि कषायों का नाश होना ही धर्म है। कषायों के अभाव से ही वीतराग अवस्था होने पर फिर किसी भी कर्म की स्थिति नहीं बँध सकती। इस प्रकार धर्म के धारण करने से अनुक्रम से सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है और सिद्ध अवस्था प्राप्त होने पर फिर कभी भी जन्म-मरण नहीं हो सकता। इसलिए मृत्यु को जीतने के लिए धर्म धारण करना ही इस जीव का एक मात्र कर्त्तव्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रेष्ठ गुरु का लाभ होने पर अप्रमादीपन की आवश्यकता

नृजन्मलाभे स्वविवेकदं वा,
सुदुर्लभं श्रेष्ठगुरुं च लब्ध्वा।
कदापि चित्ते कुरु मा प्रमादं,
क्षमस्व लोकस्थितसर्वजीवान् ॥१८॥
तथामृतं यच्छ विषप्रदात्रे,
दुखप्रदात्रे स्वसुखं सदैव।
यतो भवेत्ते निजराज्यलक्ष्मीः,
दासीव भक्त्याऽखिलकार्यकर्त्री ॥१९॥

अर्थ—इस संसार में मनुष्य जन्म की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है। यदि किसी विशेष पुण्यकर्म के उदय से मनुष्यजन्म की प्राप्ति हो जाय और फिर उसी मनुष्य जन्म में अपने आत्मज्ञान को देने वाले, अत्यन्त दुर्लभ और कृपा के सागर श्रेष्ठ निर्ग्रन्थ गुरु की प्राप्ति होजाय तो फिर मनुष्य को अपने हृदय में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये। तीनों लोकों में जितने जीव हैं उन सबको क्षमा कर देना चाहिये। जो तेरे लिये विष देता हो, उसे अमृत देना चाहिये और जो तुझे दुःख देता हो उसे सदा आत्मजन्य सुख देते रहना चाहिये। यदि तू ऐसेही कार्य करता रहेगा तो समस्त कार्यों को सिद्ध करनेवाली स्वराज्यरूप मोक्षलक्ष्मी दासी के समान भक्तिपूर्वक तेरे समीप आजायगी।

भावार्थ—इस संसार में यह जीव अनेक पर्यायों में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिभ्रमण करता रहता है। परन्तु उन सब पर्यायों में एक मनुष्य पर्याय ही ऐसी है जिसमें यह जीव अपना कल्याण कर सकता है। शेष किसी पर्याय में यह जीव अपना कल्याण नहीं कर सकता।

निगोद में तो अक्षर के अनन्तवें भागमात्र ज्ञान रहता है। जिससे वहां कुछ कर नहीं सकता। पृथ्वीकायिक जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक, वनस्पतिकायिक जीवों में भी ज्ञान की मात्रा बहुत ही कम रहती है। इसलिये वहां भी यह जीव अपना कल्याण नहीं कर सकता। द्वीन्द्रियादि पर्याय में भी ज्ञान की मात्रा बहुत कम है। अतः वहां भी यह जीव अपना कल्याण नहीं कर सकता। असैनी पंचेन्द्रिय में मन के न होने से यह जीव अपने कल्याण का विचार भी नहीं कर सकता। सैनी पंचेन्द्रियों में पशु पक्षी कुछ कर ही नहीं सकते, नारकी कुछ कर नहीं सकते, देव सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु चारित्र धारण नहीं कर सकते।

इस प्रकार विचार करने से सिद्ध होता है कि सिवाय मनुष्य के और कोई भी अपना कल्याण नहीं कर सकता। तथा यह भी निश्चित है कि मनुष्य पर्याय बड़ी कठिनता से प्राप्त होती है। ऐसी कठिन मनुष्यपर्याय प्राप्त कर लेने पर भी वीतराग निर्ग्रन्थ गुरुओं का समागम बहुत ही बड़े शुभ कर्म के उदय से होता है। ऐसे निर्ग्रन्थ गुरुओं के समागम में भी जो मनुष्य प्रमाद करता है, अपने आत्मा का कल्याण नहीं करता, वह अपने मनुष्य-जन्म को व्यर्थ ही खो देता है। एक बार खोया हुआ मनुष्य-जन्म बार-बार नहीं मिलता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसलिए मनुष्य जन्म पाकर प्रत्येक श्रावक को समस्त जीवों पर दयाभाव धारण करना चाहिए। सबको क्षमा कर देना चाहिए। सबको सुखी बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। सबको श्रेष्ठ उपदेशरूपी अमृत का दान करते रहना चाहिए तथा अंत में गृहस्थावस्था का त्याग कर ध्यान वा तपश्चरण के द्वारा समस्त कर्मों का नाश कर मोक्ष प्राप्त करना चाहिए। मनुष्य पर्याय प्राप्त करने की यही सफलता है।

कुतत्त्वों के मानने, आत्मप्रशंसा व परनिन्दा करने का निषेध

अज्ञानतः पक्षविमूढतो हि,
मत्वेत्यतत्त्वे वरतत्त्वमेव ।
घोरं च पापं कृतवान् किलात्मन्,
निजप्रशंसां परजीवनिन्दाम् ॥२०॥
तत्पापशान्त्यै च ततो विरुद्धं,
कुरु प्रमोहं प्रविहाय निन्द्यम् ॥
कृतापराधस्य यतो विनाशः ।
सुतत्त्वलाभः सुखदो भवेत्ते ॥२१॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तूने अपने अज्ञान के कारण अथवा किसी पक्षपात में फँस जाने के कारण कुतत्त्वों को ही श्रेष्ठ तत्त्व माना तथा कुतत्त्वों को श्रेष्ठ तत्त्व मानकर अनेक प्रकार के घोर पाप किए, अपनी प्रशंसा की और दूसरों की निन्दा की। हे वत्स ! इन पापों को नाश करने के लिए अत्यन्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निन्दनीय मोह का तथा कुतत्त्वों के मानने का त्याग कर, अपनी निन्दा कर और दूसरों की प्रशंसा कर। ऐसा करने से ही तेरे किए हुए पापों का नाश होगा और सुख देने वाले श्रेष्ठ तत्त्वों का लाभ होगा।

भावार्थ—इस लोक में तत्त्व दो प्रकार के हैं। एक जीव तत्त्व और दूसरा अजीव तत्त्व। इन दोनोंमें जीव तत्त्व मुख्य है, अजीव तत्त्व गौण है। जीव तत्त्व उपादेय (ग्रहण करने योग्य) और अजीव तत्त्व हेय (त्याग करने योग्य) है। इस प्रकार तत्त्वों के स्वरूप को जानना सम्यग्ज्ञान कहलाता है तथा इससे विपरीत मानना अथवा आत्मतत्त्व का नहीं मानना केवल भौतिक पदार्थों को ही मानना मिथ्याज्ञान वा अज्ञान कहलाता है।

जो अपने स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ अन्य पदार्थों को प्रकाशित करता है उसको दीपक कहते हैं। उसी प्रकार जो अपने आत्मा के स्वरूप को जानता हुआ अन्य पदार्थों के स्वरूप को जानता है वही सम्यग्ज्ञान कहलाता है। जो ज्ञान अपने आत्मा के स्वरूप को नहीं जानता वह अन्य पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ रीतिसे नहीं जान सकता। यही कारण है कि आत्मज्ञान के विना जितना ज्ञान है वह सब मिथ्या-ज्ञान वा अज्ञान कहलाता है।

जहां ऐसा अज्ञान होता है वहां पर अनेक प्रकार के पक्षपात

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होते हैं तथा वहीं पर कुतत्त्वों को ही तत्त्व मान लिया जाता है। जहां कुतत्त्वों को ही तत्त्व मान लिया जाता है, वहां पर अपनी प्रशंसा करना और दूसरों की निन्दा करना तो छोटी सी बात है तथा इन सब कामों के करने से महापाप उत्पन्न होता ही है।

वह महापाप उत्पन्न न हो इसके लिये हे आत्मन्! तू आत्मतत्त्व को ही उपादेय तत्त्व मान, इसीके यथार्थ स्वरूप का श्रद्धान कर तथा इसी के स्वभावरूप आचरण कर। ऐसा करने से पहले के किए हुए पाप भी नष्ट हो जाते हैं। अपनी प्रशंसा और परनिन्दा भी छूट जाती है और अत्यन्त निंदनीय यह मोह भी छूट जाता है। इस प्रकार मोह के छूट जाने से आत्मा के यथार्थ स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है और आत्मा के यथार्थ स्वरूप की प्राप्ति होने से अनन्तसुख स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

अभक्ष्यभक्षण के त्याग का उपदेश

जिह्वाप्रलोभान्मधु चासवं वा,
पलं तथा धर्मविनाशकं वै।
निन्द्यं सदा कौ व्यसनं व्यथादं।
कुसङ्गतः सेवितवान् ह्यभक्ष्यम् ॥२२॥
आत्मन्न्नतरत्वं व्यसनस्वरूपं,
जिह्वाप्रलोभाच्च भवां स्वहानिम् ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञात्वेति मुक्त्वा कुरु चात्मशुद्धिं,
यतस्तवात्मा नु भवेत्पवित्रः॥२३॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तूने जिह्वा इन्द्रिय के स्वाद के लोभ से अत्यन्त घृणित तथा धर्मनाशक मद्य, मांस और मधु का सेवन किया। यह मद्य, मांस, मधु का सेवन करना एक प्रकार का व्यसन है जो कि अत्यन्त निन्द्य है, अभक्ष्य है और महादुःख देने वाला है। यह मद्य, मांस, मधु का सेवन रूप व्यसन तूने नीच लोगों की संगति से किया। अतएव हे आत्मन् ! तू सबसे पहले व्यसनों का स्वरूप समझ जिह्वा के स्वाद के लोभ से होने वाली हानि को देख। इन दोनों का त्याग कर तथा इनके समान अन्य विकारों का भी त्याग कर, अपने आत्मा को शुद्ध बना। जिससे कि तेरी आत्मा अत्यन्त पवित्र हो जाय।

भावार्थ—आत्मा को शुद्ध करने वाले आत्माके शुद्ध भाव हैं। जिस आत्मा का शरीर शुद्ध होता है उसके भाव भी शुद्ध होते हैं। जिसका शरीर अशुद्ध होता है उसके भाव भी अशुद्ध होते हैं। इस शरीर के बनने और बढ़ने में यदि कारण सामग्री अशुद्ध होती है तो यह शरीर भी अशुद्ध होता है तथा शरीर के बनने वा बढ़ने के साधन यदि शुद्ध होते हैं तो शरीर भी शुद्ध ही होता है।

शरीर के बनने का साधन माता पिता का रजोवीर्य है। यदि माता पिता का रजोवीर्य शुद्ध होता है तो शरीर भी शुद्ध बनता है। जिन माता पिता के कुल में परम्परा से सदाचार चला आता है उन माता पिताओं का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रजोवीर्य शुद्ध कहलाता है तथा जिन माता पिताओं के कुल में परम्परा से व्यभिचार वा धरेजा होता है उनका रजोवीर्य अशुद्ध गिना जाता है।

इसी प्रकार मनुष्य जो भोजन करता है वह भी शरीर के बढ़ने का कारण है। यदि मनुष्य शुद्ध भोजन करता है तथा शूद्र के हाथ का जल तक ग्रहण नहीं करता तो समझना चाहिए कि उस शुद्ध रजोवीर्य से बना हुआ शुद्ध शरीर उस शुद्ध भोजन से बढ़ने परभी शुद्धही बना रहेगा। यदि मनुष्य मद्य मांसादिक का सेवन करता है तो शुद्ध रजोवीर्य से उत्पन्न हुआ शुद्ध शरीर भी उन मद्य मांसादिक अशुद्ध पदार्थों के सेवन करने से अवश्य ही अशुद्ध होजाता है। जहां शरीर की अशुद्धता होती है वहां पर परिणामों में अशुद्धता होना स्वाभाविक है। इसीलिए इन मद्य मांसादिक के सेवन को धर्म का नाश करने वाला बतलाया है।

इसके सिवाय ये पदार्थ अत्यन्त घृणित हैं, देखने योग्य भी नहीं हैं। अनेक जीवोंका घात करने से उत्पन्न होते हैं। इनके सेवन करने से क्षण भर के लिए जिह्वा का स्वाद भले ही मिल जाय परन्तु वह क्षण भर का स्वाद अनन्त दुःखों को देने वाला होता है। इसलिए हे आत्मन्! तू इनके सेवन करने का सर्वथा त्याग कर। इनका त्याग करने से शरीर पवित्र होता है वा उससे आत्मा वा उसका भाव पवित्र होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्रतों में दोष लगाने पर करणीय कर्तव्य

गुरूप-कण्ठा-दतिदुर्लभं को,
व्रतं महात्महितं पवित्रम्।
प्रमत्तयोगाद्धि क्षतं व्रतं चेत्,
दोषीकृतं मोहवशात् त्वया वा ॥२४॥

तच्छुद्धिमेवं विधिना हि कृत्वा,
पुन र्व्रतं पालय तद्विमुक्तम्,
यतो भवेत्ते सफलं हि जन्म,
दृढं मनोऽपि व्रतशीलधर्मे ॥२५॥

अर्थ—इस संसार में व्रतों का पालन करना अत्यन्त दुर्लभ है। यदि वे व्रत वीतराग निर्ग्रन्थ गुरुसे धारण किए जांय तो उनकी महिमा और भी बढ़ जाती है। ऐसे व्रत सदाकाल सुख देनेवाले और पवित्र होते हैं। ऐसे अत्यन्त पवित्र, सुखदायक तथा अत्यन्त दुर्लभ व्रतों को वीतराग निर्ग्रन्थ गुरु से धारण करके भी यदि हे आत्मन्! तूने प्रमाद के वशीभूत होकर उनका भङ्ग किया हो अथवा मोह के वशीभूत होकर उनमें कोई दोष लगाया हो तो विधिपूर्वक उनकी शुद्धि कर उन व्रतों को फिर से धारण कर। ऐसा करने से ही तेरा यह जन्म कृतकृत्य (कृतार्थ) होगा और तेरा मन भी व्रत शील और धर्म के पालन करने में अत्यन्त दृढ हो जायगा।

भावार्थ—प्रथम तो श्रेष्ठ गुरुओं का समागम मिलना ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतिकठिन है। किसी विशेष शुभ कर्म के उदय से ही गुरुओं का समागम मिलता है। ऐसा गुरुओं का समागम मिलने पर तथा उनसे निर्मल व्रतों को ग्रहण कर लेने पर फिर उन व्रतों को बड़े प्रयत्न से पालन करना चाहिए। शास्त्रों में लिखा है "विमृश्य व्रतमादेय-मात्तं पाल्यं प्रयत्नतः" अर्थात् व्रतों को विचारपूर्वक धारण करना चाहिए। ग्रहण किये हुए व्रतों को प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिए।

इसका अभिप्राय यह है कि जो व्रत धारण किया जाता है उससे आत्मा का कल्याण होता है या नहीं? संसार में व्रत के नाम से बहुत से ऐसे व्रत प्रचलित हैं जिनको धारण करने पर भी लोग कन्दमूल आदि का भक्षण करते हैं। ऐसे व्रतों के पालन करने से कर्मों का नाश वा लाभ नहीं होता किन्तु कन्दमूलादिक का भक्षण करने से नवीन कर्मों का ही बन्ध होता है।

व्रत उन्हीं को कहते हैं जिनमें हिंसादिक पापों का और रागद्वेषादिक विकारों का त्याग हो जाय। हिंसादिक पापों वा रागद्वेषादिक का त्याग हो जाने से ही कर्मों का नाश होता है। ऐसे व्रत वीतराग निर्ग्रन्थ गुरु ही दे सकते हैं। अन्य सरागी, परिग्रहको धारण करने वाले गुरु न तो ऐसे व्रत पालन कर सकते हैं और न दूसरों को दे सकते हैं। इसलिए वीतराग श्रेष्ठ गुरुओं से ही व्रत धारण करना चाहिए तथा ऐसे गुरुओं से धारण किए हुए व्रतों को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिए। उनमें न तो दोष लगाना चाहिये और न उनको भंग करना चाहिये।

यदि कदाचित् किसी प्रमाद से वा मोह से किसी व्रत में दोष लग जाय वा कोई व्रत भंग हो जाय तो साव-धान होकर विधिपूर्वक उसका प्रायश्चित्त लेना चाहिए तथा प्रायश्चित्त लेकर फिर उस व्रत को दोषरहित पालन करना चाहिये। इस प्रकार निर्दोष व्रत के पालन करने से ही श्रावक जन्म कृतार्थ गिना जाता है। इस प्रकार व्रत पालन से मन भी उन व्रतों में तथा धर्म वा शील पालन में अत्यन्त दृढ़ हो जाता है।

कुगुरुओं के सम्बन्ध के त्याग का उपदेश

प्रतिक्षणं प्राणहरे भवार्तौ,
भ्रान्तिप्रदे क्लेशकरे निगोदे।
तिर्यग्गतौ निन्द्यतरे कुयोनौ,
श्वभ्रे व्यथादे कुगुरोः प्रसङ्गात् ॥२६॥
भ्रान्तस्त्वमात्मन् बहुशोजगत्यां,
ज्ञात्वेति मुक्त्वा कुगुरोः प्रसङ्गम्।
कुरु प्रसङ्गं सुगुरोः कृपाब्धेः,
स्वराज्यलाभो हि तवाश्रितः स्यात् ॥२७॥

अर्थ—हे आत्मन्! कुगुरुओं की सेवा करने से ही तूने आजतक सदाकाल अत्यन्त क्लेश और भ्रांति उत्पन्न करने वाले निगोद में परिभ्रमण किया है, महादुःख देने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाले प्रतिक्षण प्राणोंको हरण करनेवाले तथा अत्यन्त निन्दनीय नरक में परिभ्रमण किया है और अत्यन्त निकृष्ट योनि कहलाने वाली तिर्यंचगति में परिभ्रमण किया है। हे शिष्य! इस प्रकार तूने वीतराग निर्ग्रन्थ गुरु की सेवा न करने से तथा कुगुरु की सेवा करने से अनन्तकाल तक संसाररूपी महासागर में परिभ्रमण किया। अतएव अब तू कुगुरुओं की सेवा करने का सर्वथा त्याग कर दे। कृपा के सागर समस्त जीवों पर दया धारण करने वाले वीतराग निर्ग्रन्थ गुरुओं की सेवा करने से मोक्षरूपी स्वराज्य तेरे अधीन हो जायगा।

भावार्थ—जिनकी विषयलालसा सर्वथा नष्ट होगई है, जो खेती बाड़ी, रोटी, पानी आदि किसी प्रकार का आरम्भ नहीं करते, वस्त्रादिक किसी प्रकार का परिग्रह धारण नहीं करते और जो पठन-पाठन, तपश्चरण वा ध्यान में सदाकाल लीन रहते हैं उनको श्रेष्ठ वीतराग निर्ग्रन्थ गुरु कहते हैं।

जो साधु, साधु होकर भी इससे विपरीत प्रवृत्ति करते हैं, वस्त्र रखते हैं, खेती बाड़ी करते हैं, झोपड़ी बनाकर रहते हैं, रोटी करते हैं, पानी भरते हैं, दिनभर भिक्षा मांगते रहते हैं तथा जिनकी विषयतृष्णा अत्यन्त बढ़ी हुई है, जो चाहे जैसी स्त्री भी रख लेते हैं, भांग, चरस, गांजा, शराब आदि अत्यन्त निषिद्ध और घृणित पदार्थों का सेवन करते हैं उनको कुगुरु कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसे कुगुरु पत्थर की नाव के समान होते हैं, आप भी डूबते हैं और अपने सेवक को भी ले डूबते हैं। इसलिए ऐसे कुगुरुओं से सदा बचते रहना चाहिए। जो स्वयं चरस, गांजा आदि पीते हैं उनसे मोक्षमार्ग का उपदेश कभी नहीं मिल सकता, उनसे तो वही चरस गांजे का उपदेश मिलेगा। इसलिए हे आत्मन्! तू ऐसे कुगुरुओं का सम्बन्ध छोड़ और समस्त जीवों पर दया करने वाले निर्ग्रन्थ गुरुओं की सेवा कर।

निर्ग्रन्थ गुरु सदा मोक्षमार्ग में लगे रहते हैं तथा शिष्यों को भी मोक्षमार्ग में लगाते हैं। इसलिए ऐसे श्रेष्ठ गुरुओं की सेवा से इस जीव को शीघ्रही मोक्षकी प्राप्ति होजाती है।

अपराध होने पर क्षमा याचना का उपदेश

चतुर्गते दुःखमये भवे वाऽ-
ज्ञानेन नित्यं भ्रमता त्वया ये।
विनिन्दिता, स्त्रीधनवञ्चिताश्च,
क्षमां हि याचस्व विराधितान्तान्।
यतस्तवात्मा हि भवेद्विशुद्धः
त्वं स्यात्तथा स्वात्मरसे सुतृप्तः ॥२६॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू अपने अज्ञान के कारण चारों गतियों के दुःखों से भरे हुए इस संसार में सदा परिभ्र-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मण करता है। इस प्रकार परिभ्रमण करते हुए तूने अनेक जीवों की निन्दा की है, अनेक जीवों को स्त्रीरहित किया, अनेक जीवों को प्राणरहित किया तथा अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर अनेक जीवोंकी विराधना की है। अब तू उन सब से क्षमा मांग। अपने किए हुए पापों का पश्चात्ताप करने से तथा क्षमा-याचना से यह तेरा आत्मा शुद्ध हो जायगा तथा तू अपने शुद्ध आत्मा के रस में सदा के लिए स्थिर और तृप्त हो जायगा।

भावार्थ—किए हुए अपराध का पश्चात्ताप करना और जिसका अपराध किया है उससे क्षमा मांगना प्रायश्चित्त कहलाता है। यद्यपि पश्चात्ताप करने से अथवा जिसका अपराध किया है उससे क्षमा मांग लेने से उसका बिगड़ा हुआ काम नहीं सुधर सकता। जिसका धन हरण किया है उसको धन नहीं मिल सकता, जिसका प्राणहरण किया है उसके प्राण वापिस नहीं आ सकते तथा जिसकी विराधना की है वह फिर उसी रूप में नहीं हो सकता। तथापि जब यह प्राणी उन पापों से डरता है, पापों से भयभीत होता है और फिर उन पापों को करने की इच्छा नहीं करता, वही पुरुष उन किए हुए पापों का पश्चात्ताप कर सकता है तथा वही क्षमा मांग सकता है। इसीलिए आचार्यों ने किए हुए पापों का पश्चात्ताप करने और क्षमा मांगने को प्रायश्चित्त कहा है।

प्रायः शब्द का अर्थ पाप है और चित्त शब्द का अर्थ शुद्धि है। जिसके करने से पापों की शुद्धि हो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाय, पाप नष्ट हो जांय उसको प्रायश्चित्त कहते हैं। प्रायश्चित्त लेने से पापों को शान्ति अवश्य होती है। क्योंकि पापों से भयभीत होने के कारण प्रायश्चित्त लेने वाले के परिणाम ही बदल जाते हैं तथा शुभरूप परिणत हो जाते हैं। यह श्रेष्ठ गुरुओं के समागम का फल है।

श्रेष्ठ गुरुओं के दर्शन वा उपदेश से आत्मा पवित्र होता है। अतएव श्रावकों का कर्तव्य है कि वे प्रतिदिन सामायिक और प्रतिक्रमण करें तथा प्रतिक्रमण में अपने सब अपराधों की आलोचना करते हुए पश्चात्ताप करें और जिनका अपराध किया है उनसे क्षमा मांगें तथा फिर ऐसा अपराध न करने का नियम लें। ये सब आत्मा को पवित्र करने के साधन हैं।

स्थावर जीवों की हिंसा की आलोचना

त्वया ह्यभाग्येन निरङ्कुशेन,
स्वार्थाभिवृद्ध्यै ह्यतिनिर्दयेन।
पञ्चप्रकारास्तु गतापराधाः,
दुःखीकृताः कौ बहवो हताश्च ॥२०॥
विराधिताः स्थावरकायजीवाः,
ततश्च तद्दोषविनाशनार्थम्।
कुर्वात्मनिन्दाञ्च परप्रशंसां,
शिक्षालयस्थापनवर्धनादिम् ॥२१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ—हे आत्मन्! भाग्यहीन तूने अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए निर्दय होकर निरपराध पांचों प्रकार के स्थावरकायिक जीवों की विराधना की, उन्हें दुःखी किया और उनका नाश किया है। इसलिए हे आत्मन्! उन समस्त दोषों के दूर करने के लिए तू अपनी निंदा कर। जो हिंसादिक पाप नहीं करते उनकी प्रशंसा कर और इस प्रकार के आत्मज्ञान की शिक्षा देने वाले विद्यालयों को स्थापन कर तथा धनादिक के द्वारा उनकी वृद्धि कर।

भावार्थ—गृहस्थावस्था में स्थावरकायिक जीवों की हिंसा होती ही है। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, बनस्पतिकायिक ये पांच प्रकारके स्थावरकायिक कहलाते हैं। ये पांचों प्रकार के जीव किसी का कुछ अपराध नहीं करते। वे स्वयं इतने निर्बल हैं कि दूसरों का अपराध कर ही नहीं सकते।

तथापि हे आत्मन्! तूने न जाने कितनी पृथ्वी खुदवाई है, कितने खेत जुतवाये हैं और उससे न जाने कितने पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा की है। गृहस्थावस्था में न जाने कितना पानी फैलाया है, न जाने कितनी बार नदियों में वा कूवा बावड़ियों में स्नान किया है, न जाने कितना पानी पिया है, न जाने कितने पानी से वस्त्र धोये हैं। इन सब में न जाने कितने जलकायिक जीवों की हिंसा की है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसी प्रकार न जाने कितनी बार भोजन बनाने के लिये अग्नि जलाई, न जाने कितनी बार तापने के लिये अग्नि जलाई, न जाने कितनी बार खेत व जंगल जलाये और न जाने कितनी बार अग्नि बुझाई। इन सब कामों में न जाने कितने अग्निकायिक जीवों का घात किया है।

गर्मी के दिनों में न जाने कितनी बार पंखा चलाया और खरियानों में न जाने कितनी बार वायु के झकोरों से भूसा उड़ाया, इन सब कामों में न जाने कितने वायु-कायिक जीवों का घात किया।

न जाने कितने शाक, भाजी खा डाले, न जाने कितने फल खा डाले, न जाने कितनी शाखाएँ तोड़ी, न जाने कितन वृक्ष कटवाये, न जाने कितने खेत कटवाये और न जाने कितना घास खुदवाया। इन सब कामों में न जाने कितने वनस्पतिकायिक जीवों का घात किया है।

हे आत्मन्! अब तू इन सब कर्मों की निंदा कर, पश्चात्ताप कर और उन सब पापों को शान्त करने के लिए आत्मज्ञान को बढ़ाने वाले वा पापों का त्याग कराने वाले शास्त्रों का पठन-पाठन कर। ऐसे शास्त्रों के पढ़ने के साधन विद्यालय स्थापन कर और सब प्रकार से उनकी वृद्धि वा रक्षा कर। ऐसा करने से पाप शान्त होंगे और आगे के लिए पुण्यकर्म तथा रत्नत्रय की प्राप्ति होगी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विना छना पानी काम में लाने की आलोचना

अगालितेनैव जलेन नित्यं,
सूक्ष्मादिजन्तो र्हि कलेवरेण ।
हतात्मबुद्धिः खलु निर्दयो वा ॥३२॥
स्नानं सदा त्वं कृतवान्वगाह्य,
तद्धेतुना प्राणभृतो ह्यसंख्याः ।
हताश्च छिन्नाश्च बभूव भिन्ना ।
तांश्चैव याचस्व क्षमां स्वशान्त्यैं,
स्वर्मोक्षदं त्वं कुरु दानधर्मम् ॥३३॥

अर्थ—हे आत्मन् ! अगलित जल अनेक सूक्ष्म जीवों का कलेवर है फिर भी तूने अपनी सुबुद्धि खो निर्दय हो-कर उसी नदी वा सरोवर के अगलित जल में डुबकी लगा कर स्नान किया, जिससे वहुत से जीव मर गये, वहुत से जीव छिद गये और वहुत से जीव भिद गए ।

हे आत्मन् ! अव तू अपने उन पापों को शान्त करने के लिए उन समस्त जीवों से क्षमा मांग । स्वर्ग मोक्ष देने वाला पात्रदान कर और रत्नत्रयरूप धर्म को धारण कर ।

भावार्थ—विना छने पानी की एक बूंद में भी असं-ख्यात जीव होते हैं । फिर अधिक जल में न जाने कितने जीव होंगे, इसका अनुमान लगाना कठिन है । जो जीव वहुत से जल में डूब कर स्नान करते हैं, तैरते हैं व जल-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रीडा करते हैं, वे न जाने कितने त्रस जीवों का छेदन-भेदन करते हैं।

हे आत्मन् ! तूने भी न जाने कितनी बार जलक्रीडा की और तू न जाने कितने पानी में तैरा है। इन सब कामों में तूने महापाप उत्पन्न किया है। इसलिए उन पापों को शान्त करने के लिये उन सब जीवों से क्षमा माँग। उन पापों का पश्चात्ताप कर और आगे ऐसे पाप न करने के लिए नियम ले। इसके सिवाय तू उन पापों को शान्त करने के लिए पात्रदान तथा धर्म धारण कर।

फल, पुष्प वा शाखा आदि के विराधन की आलोचना

अज्ञानतः स्वार्थवशाद्धि हा हा,
त्वया ह्यभाग्येन निजात्महन्त्रा।
शाखा-समूहैः सुफलादिपुष्पै-
र्विभूषिताः ये तरवः सजीवाः ॥३४॥
अन्ये तथा स्थूलतराश्च सूक्ष्माः,
पृथ्व्यादिकायाश्च विराधिता ये।
मिथ्या यतः स्याद्धि कृतापराधः,
तांश्चैव याचस्व क्षमां स्वबुद्ध्या ॥३५॥

अर्थ—हे आत्मन् ! इस संसार में अनेक प्रकार के स्थूल वा सूक्ष्म सजीव वृक्ष अपनी शाखाओं से तथा फल पुष्पों से सुशोभित हो रहे हैं। इनके सिवाय पर्वतों वा नदि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यों के पृथ्वीकाय वा जलकाय आदि जीव भी अपनी शोभा बढ़ा रहे हैं। परन्तु अपने ही आत्मा का घात करने वाले तूने अपने अशुभ कर्म के उदय से अपने अज्ञान वा स्वार्थ के वशीभूत होकर उन सब की विराधना की है। उन सब जीवों की विराधना से होने वाला तेरा पाप मिथ्या हो इसके लिए तू अपने शुद्ध हृदय से उन सबसे क्षमा मांग।

भावार्थ—इस संसार में जितने पदार्थ हैं वे सब इस संसार की शोभा बढाने के लिए हैं। जगलों वा वनों में बड़े बड़े वृक्ष होते हैं और वे बड़े सुन्दर लगते हैं। परन्तु हम स्वार्थ के वशीभूत होकर अपने काम के लिए उनको कटवा डालते हैं। किसी की शाखाएँ कटवा डालते हैं, किसी की छाल कटवा लेते हैं और किसी के पत्ते तुड़वा लेते हैं।

छोटे पौधों को शाक-भाजी के लिये उखड़वा लेते हैं। उनके फूल तुड़वा लेते हैं वा फल तुड़वा लेते हैं। इन सब को तुड़वा लेना उनका घात करना है तथा साथ ही अपने आत्मा में कलुषता, तृष्णा वा लोभ होने के कारण अपने आत्मा का भी घात करना है इस प्रकार अपने थोड़े से स्वार्थ के लिये अपने आत्मा का भी घात करते हैं और अन्य अनेक जीवों का भी घात करते हैं।

इसी प्रकार पर्वतों को तोड़ डालते हैं, उनके पत्थर फोड़ लेते हैं, नदियों का जल काम में लाते हैं। यह सब

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृथ्वीकायिक तथा जलकायिक जीवों का घात करना है। इन सब के घात करने में हिंसाजन्य महापाप उत्पन्न होता है।

हे आत्मन् ! तूने भी ये सब पाप किए हैं। इसलिए अब तू उन पापों के लिए पश्चात्ताप कर, सब की आलोचना कर, सब से क्षमा मांग और अब आगे के लिए सब को क्षमा कर। ऐसा करने से तेरा पहले का पाप शान्त होगा और आगे के लिए अशुभ कर्मों का बन्ध रुक जायगा।

व्रतादिक न करने और अशुभ कार्यों के करने की निन्दा वा त्याग का उपदेश

व्रतोपवासः सुखदं तपो वा,
कृतं न वा कारितमेव नान्यैः।
स्वर्मोक्षदं संयमशीलरत्नं,
न रक्षितं प्रेरित एव नान्यः ॥३६॥
त्वया प्रमोहाच्च विवेकहानेः,
कृतं व्यथादं विविधं कुकर्म।
तच्छान्तिहेतोः कुरु चित्तशुद्धिं,
यतो भवेत्ते सफलं नृजन्म ॥३७॥

हे आत्मन् ! तूने न तो आज तक कोई व्रत पालन किया है, न उपवास किए, न सुख देने वाला तपश्चरण किया और न ये सब काम दूसरों से कराये। इसी प्रकार स्वर्ग और मोक्ष देन वाले संयम और शीलरूप रत्न की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रक्षा तो न तूनें स्वयं की है और न इनकी रक्षा करनें के लिये दूसरे से प्रेरणा की है। इसके विपरीत मोह जाल में फँसकर तूनें महादुःख दायक अनेक कुकर्म कर महापाप उत्पन्न किये हैं। अब उन समस्त पापोंको शांत करनेके लिए अपने हृदय को शुद्ध कर जिससे तेरा मनुष्य-जन्म सफल हो।

भावार्थ—व्रत, उपवास वा तप करना आत्मकल्याण का कारण है, इनके करने से विषयोंकी तृष्णा घटती है, कषायों का अभाव होता है, इन्द्रियों का निग्रह होता है और समस्त जीवों की रक्षा होती है। विषयों की तृष्णा और कषायों का अभाव होने से अशुभ कर्मों का बंध नहीं होता तथा इन्द्रियों का निग्रह करने से, जीवों की रक्षा करने से शुभ कर्म का बंध होता है। तपश्चरण करने से पूर्व संचित समस्त कर्मों का नाश हो जाता है। इसी प्रकार संयम तथा शील की रक्षा से भी कर्मों का आस्रव रुक जाता है और संचित कर्मों का नाश हो जाता है।

हे आत्मन्! यदि तूने ये व्रत उपवास वा तपश्चरण आदि किये होते तो तुझे अवश्य ही रत्नत्रय वा मोक्ष की प्राप्ति हो गई होती अथवा तेरे परिणामों में अनन्त शुद्धता आ गई होती। परन्तु तू आज तक मोहजाल में ही फँस रहा है और इसी कारण अनेक कुकर्म करता रहता है।

जैसे किसी धनी पुरुष के पुत्र नहीं होता उसके पास यदि कोई उसके समीपी बन्धु का लड़का कुछ मांगने आता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है तो वह धनी उसको एक पैसा भी नहीं देता। क्योंकि वह धनी उस लड़के को अपना नहीं समझता। परन्तु समय और कारण पाकर वह धनी जब उसी लड़के को गोद ले लेता है तो तब वह उसके लिये सब कुछ दे डालता है। यदि वह बीमार पड़ जाय तो उसे देखकर बहुत दुखी होता है। तथा उसके लिए सब तरह के पाप और सब कुछ करने को तैयार होजाता है। क्या यह उसका मोह या मिथ्यात्व नहीं है ? उस लड़के को अपना मान लेने से ही सब तरह के पाप करने पड़ते हैं। इसी प्रकार लोक के अन्य पदार्थों को भी अपना मान लेने से ही महापाप करने पड़ते हैं।

वास्तव में देखा जाय तो सिवाय आत्मा के और कोई भी पदार्थ अपना नहीं है। आत्मा के सिवाय अन्य किसी भी पदार्थ को अपना मान लेना मोह है। और यही नरक निगोदादि का कारण है। इसलिए हे आत्मन् ! तू इस मोह का त्याग कर। मोह का त्याग करने से ही हृदय तथा आत्मा की शुद्धि होती है और इसी से मनुष्य-जन्म की सफलता वा अनन्त सुख की प्राप्ति होती है।

कन्द-मूलादिक के भक्षण करने की आलोचना

कन्दादिमूलं च निगोदपिण्डं,
ह्यन्नं सचित्तं भवदं प्रभुक्तम्।
सूक्ष्मः प्रियो वै हरिताङ्कुरादिः
त्वया हि छिन्नश्च विराधितो वा ॥३८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तद्दोषसंख्यां गदितुं न शक्तः,
शक्रः परेषां हि कथैव कास्ति ।
तथापि ते स्यात्कृतकर्मनाशो,
भक्त्यैव धर्मं यदि त्वङ्करोषि ॥३६॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तूने निगोदराशि के पिण्डस्वरूप अनेक कन्द-मूलादिक का भक्षण किया है। जन्म-मरणरूप संसार को बढ़ानवाले सचित्त अन्न का भक्षण किया है अथवा बहुत प्रिय वा बहुत मनोहर ऐसे सूक्ष्म हरे अंकूरों की विराधना की है। इन सब कार्यों के करने में जो पाप वा दोष उत्पन्न हुए हैं उनकी संख्या कहने के लिए इन्द्र भी समर्थ नहीं है। हे आत्मन् ! अब भी यदि तू भक्तिपूर्वक धर्म का सेवन करेगा तो इन अनेक बड़े पापोंसे उत्पन्न होने वाले कर्म भी अवश्य नष्ट हो जांयगे।

भावार्थ—कन्दमूल अनन्तानन्त जीवों का पिण्ड है। जिस प्रकार जम्बूद्वीपमें भरतादि अनेक क्षेत्र हैं, प्रतिक्षेत्र में कौशलादि अनेक देश हैं, प्रति देश में साकेतादि अनेक नगर हैं और प्रत्येक नगर में अनेक घर हैं। उसी प्रकार एक एक स्कन्ध में असंख्यात लोकप्रमाण अंडर हैं, एक-एक अंडर में असंख्यात लोकप्रमाण आवास हैं, एक-एक आवास में असंख्यात लोकप्रमाण पुलवी हैं और एक-एक पुलवी में अनन्तानन्त जीव हैं। इस प्रकार एक-एक स्कन्ध में अनन्तानन्त निगोदिया जीव होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक-एक बादर निगोद शरीर में जो अनन्तानन्त जीव होते हैं। उनमें से जब एक जीव स्वास लेता है तब अनन्त-जीव स्वास लेते हैं। जब एक आहार लेता है तब अनन्त आहार लेते हैं। जब एक मरता है तब अनन्तजीव मर जाते और जब एक जन्म लेता है तब अनन्तजीव जन्म लेते हैं।

जो छिन्न भिन्न करने परभी फिर अंकुरित होजाय ऐसी डाल वा मूल को निगोदराशि में समझना चाहिए। ककड़ी जब उत्पन्न होती है तब वह साधारण निगोदराशिमें गिनी जाती है। उस पर जो सफेदी रहती है तथा रेखायें उत्पन्न नहीं होतीं व हाथसे तोड़ने पर बराबर एक (चाकू से काटने के समान) दो भाग होजाते हैं ऐसी ककड़ी साधारण निगोदराशि में शामिल है। वही ककड़ी जब बढ़ जाती है, उसमें रेखायें उत्पन्न होजाती हैं और हाथ से तोड़ने पर दो टुकड़े समान नहीं होते, दोनों टुकड़ोंमें नोकें निकली रहती हैं ऐसी ककड़ी फिर साधारण नहीं रहती, 'प्रत्येक' होजाती है।

इसीप्रकार गँवारपाठा साधारण निगोदराशिहै। बरगद की छाल भी निगोदराशिरूप है तथा बहुतसे फूल पत्ते निगोदराशिरूप हैं। प्राय: प्रथम ही उत्पन्न होनेवाले अँकूरे तथा प्रथम ही उत्पन्न होनेवाले फल साधारण निगोदरूप हैं।

हे आत्मन्! तूने भी अनेक बार इनका सेवन किया है और अनन्तानन्त जीवोंका घात किया है। इसलिये अब तू इनसे क्षमा मांग, अपने हृदयमें पश्चात्ताप कर, धर्मका सेवन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर तथा आगे भी इनके सेवन न करने का नियम ले। ऐसा करने से ही तेरे पापों की शान्ति और स्वर्ग मोक्ष आदिक के सुखों की प्राप्ति होगी।

दान और धर्म आदि न करने की आलोचना

कुटुम्बमोहादिवशात्त्वया कौ।
तथान्यकार्यादिवशाद्धि हा हा ॥
शिवप्रदः पूजन-दान-धर्मः।
कृतो हितो वाञ्छितदो न भक्त्या ॥४०॥
ततस्तवात्मा खलु निन्दनीयो।
बभूव दीनश्च पदे पदे हि ॥
ज्ञात्वेति पूजादिविधिं विधेय
अमुत्र पूज्यश्च भवेः सुखीह ॥४१॥

अर्थ—हे आत्मन्! कुटुम्बी लोगों के मोह में फँसकर अथवा अन्य अनेक कार्यों में फँसे रहने के कारण तूने समस्त इच्छाओं को पूर्ण करन वाला अत्यन्त हितकारक और मोक्षदायक पूजा दान आदि धर्म भक्तिपूर्वक पालन नहीं किया। इसीलिए तू अत्यन्त निन्दनीय होगया और पद-पद पर दीन बनता रहा। हे आत्मन्! यही समझकर अब तू पूजा दान आदि श्रेष्ठ धर्म को धारण कर जिससे कि तू परभव में लोकपूज्य और इस भव में सुखी होजाय।

भावार्थ—यह मनुष्य सवेरे से शाम वा रात तक कमाने खाने में लगा रहता है तथा उस कमान खाने के कामों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में अनेक प्रकार का पाप उपार्जन करता है। यह बात ठीक है कि संसार में आकर कमाना खाना पड़ता है और उसके लिए विविध काम करना पड़ते हैं। परन्तु वे सब काम विचारपूर्वक निर्दोष रीति से करना चाहिये, जिससे अधिक पाप नहीं लग सके। तथा जो कुछ थोड़ा बहुत पाप लगता है, उसको दूर करने के लिए दान भी देना चाहिए और प्रतिदिन प्रातःकाल भगवान् जिनेन्द्र की पूजा करना चाहिए। ये दान वा पूजन आरम्भ और परिग्रह से उत्पन्न होनेवाले पापों के नाशक हैं।

मुनिजन अपने तपश्चरण और ध्यान के द्वारा अपने कर्मों का नाश करते हैं। परन्तु उस तपश्चरण और ध्यान में गृहस्थों का दिया आहार भी साधन है। इसलिए जो गृहस्थ प्रतिदिन मुनियों को आहारदान देता है वह उस ध्यान और तपश्चरण की वृद्धि का साधन होने से महान् पुण्य उपार्जन करता है। इसलिए प्रत्येक गृहस्थ को प्रतिदिन आहारदान देने का संकल्प करना चाहिए।

इसी प्रकार भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजा भी प्रतिदिन प्रातःकाल करना चाहिए। भगवान् की पूजा करने से भावों में अत्यन्त निर्मलता होती है। एक मेंढक कमल का दल लेकर पूजा करने जा रहा था। मार्ग में हाथी के पैर के नीचे दबकर मर गया। परन्तु पूजा के संकल्प से उसके परिणामों की विशुद्धि बढ़ गई और इसीलिए वह मर कर उत्तम देव हुआ था। तथा तुरन्तही भगवान् महावीर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की वन्दना करने समवसरण में पहुँच गया था। भगवान की पूजा का माहात्म्य बहुत ही विचित्र और उच्च है। इसलिये प्रत्येक श्रावक को अपने सब काम छोड़ कर भगवान की पूजा करना चाहिए। जो लोग साधन मिलने पर भी भगवान की पूजा नहीं करते वा पात्रदान नहीं देते वे अवश्य ही निन्दनीय और दीन होते हैं, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

अतः हे आत्मन्! यदि तू दीन और दरिद्र नहीं होना चाहता है, तो प्रतिदिन भगवान की पूजन कर और पात्रदान दे। जिससे कि स्वर्गादिक सुख और सिद्ध अवस्था प्राप्त हो।

सावद्य वा पापपूर्वक होने वाले आरम्भ कार्यों की आलोचना

त्वया प्रमूढेन सुनिर्दयेन,
ह्यारम्भकार्याण्यसुनाशकानि।
संसारमूलानि कषायदानि,
सावद्ययुक्तानि सदा कृतानि ॥४२॥
सावद्यकार्यं भवदं प्रमुच्य,
कुरु क्षमादं निरवद्यकार्यम्।
यतस्तवात्मापि भवेत्कृतार्थः,
प्रशंसनीयो हि नरामरेन्द्रैः ॥४३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ—हे आत्मन्! तू अत्यन्त मूर्ख वा निर्दय होकर जन्म मरण रूप संसार के वर्धक, क्रोध मान माया लोभ आदि कषायों को बढ़ाने वाले, अनेक प्रकार के पाप उत्पन्न करने वाले और अनेक प्राणियों को नाश करने वाले आरम्भ कार्य सदा काल से वा अनन्तकाल से करता रहा है। इसलिये हे आत्मन्! अब तो तू संसार को बढ़ाने वाले इन पापों का त्याग कर और क्षमा मार्दव आदि आत्मा के गुणों के बढ़ाने वाले पापरहित कार्यों को करता रह, जिससे कि तेरा आत्मा कृत्य-कृत्य और इन्द्र नरेन्द्रों के द्वारा भी प्रशंसनीय हो जाय।

भावार्थ—खेती करना, व्यापार करना, सेवा करना, मुनीमी करना आदि आरम्भ कार्य कहलाते हैं। इनमें से बहुत से कार्य ऐसे हैं जिनमें जीवों की हिंसा बहुत थोड़ी होती है। गृहस्थावस्था में रहकर आरम्भ कार्य करने पड़ते हैं परन्तु वे इस प्रकार करना चाहिये जिसमें जीवों की हिंसा न हो या बहुत थोड़ी हो। जिन कार्यों के करने में हिंसा अधिक हो ऐसे कार्य श्रावकों को नहीं करना चाहिये। क्योंकि जितनी हिंसा अधिक होगी उतना ही पाप अधिक लगेगा। तथा जितना पाप अधिक लगेगा उतना ही संसार में अधिक परिभ्रमण करना पड़ेगा और दुःख भोगना पड़ेगा।

इसलिये हे आत्मन् अब पापयुक्त कार्यों का त्यागकर और पात्रदान वा जिनपूजन आदि पापरहित कार्योंमें ही अपना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मन लगा। इन कार्यों के करन से तेरी आत्मा पवित्र हो जायगी, पूज्य हो जायगा और फिर इन्द्र चक्रवर्ती आदि महापुरुष भी तेरी प्रशंसा करेंगे।

भूत, भविष्यत् और वर्तमानकाल में होनेवाले दोषों की आलोचना

अतीतकालेऽथ प्रवर्तमाने,
ह्यनागते वा विफलो व्यथादः।
प्रमत्तयोगाद्विषमस्त्वया हा,
दोषः कृतः कारित एव निन्द्यः ॥४४॥
कृतस्य दोषस्य ततो विनाशो,
भवेत् त्रिकालेऽपि तथा न दोषः।
तादृग् विधानं सुखदं कुरु त्वं,
स्याच्चे त्रिलोकी च सदा स्वदासी ॥४५॥

अर्थ—हे आत्मन्! तूने अपने प्रमाद से अतीत, अनागत और वर्तमान काल में कुछ भी फल न देनेवाले तथा महादुःख देने वाले, अत्यन्त विषम और महा निन्दनीय दोष किये हैं तथा दूसरों से कराये हैं। हे आत्मन्! अब तू सुख देनेवाला ऐसा कार्य कर जिससे किये हुये दोषों का नाश हो जाय तथा तीनों काल में फिर कोई दोष उत्पन्न न हो और लोकत्रय तेरा दास बन जाय।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—यह जीव व्यतीत हुये अनन्त काल में महापाप उत्पन्न करता रहा है। यदि अतीत काल में महापाप उत्पन्न न करता तो अब तक सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेता। अब तक इस जीव को जो सिद्ध अवस्था प्राप्त नहीं हुई है इसी से निश्चित होता है कि इस जीव ने अतीतकाल में महापाप उत्पन्न किये हैं तथा वर्तमान में भी पाप कर ही रहा है, यह प्रत्यक्ष है तथा अभी भी पापों का त्याग नहीं किया। इससे सिद्ध होता है कि यह जीव भविष्यत्काल में भी पाप करता रहेगा। इस प्रकार जीव के भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों में दोष वा पाप उत्पन्न होते रहते हैं, जिनसे कि यह जीव महान दुःख भोगता है।

हे आत्मन्! यदि तू अब उन पापों से तथा उन पापों से उत्पन्न होने वाले महादुःखों से भीत है तो ऐसा जप तप कर जिससे पूर्वबद्ध सब पाप नष्ट हो जांय और आगे भी कभी पाप उत्पन्न न हों। इस संसार में जप, तप वा ध्यान ही एक ऐसा विधान है, जिससे पूर्वबद्ध सब कर्म नष्ट हो जाते हैं और भविष्य में भी कर्मों का बंध नहीं होता। कर्मों के नष्ट हो जाने से इस जीव को मोक्ष या अनन्तसुख की प्राप्ति हो जाती है और फिर तीन लोक उसका दास हो जाता है वा उसकी पूजा किया करता है।

अरिहन्त, सिद्ध, जिनागम आदि की निन्दा की आलोचना

जगत्प्रभोश्चार्हत एव चार्हतः,
सिद्धस्य शुद्धस्य शिवप्रदस्य।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्व मोक्षदातुश्च जिनागमस्य,
सावद्यहर्तुं जिनमन्दिरस्य ॥४६॥
कुसङ्गतोऽज्ञानत एव निन्दा,
ह्यनादरादिश्च त्वया दुरात्मन्!
कृतः प्रदोषः कुटिलस्ततस्त्वं,
तत्पादसेवां कुरु तत्प्रशान्त्यै ॥४७॥

अर्थ—हे दुरात्मन्! तूने कुसङ्गति से अथवा अपने अज्ञान से तीनों लोकों के स्वामी भगवान् अरिहन्तदेव की निन्दा की है वा उनका अनादर किया है, इसके लिए तुझे धिक्कार है। इसी प्रकार मोक्ष देने वाले और अत्यन्त शुद्ध ऐसे सिद्ध परमेष्ठी की निन्दा की है वा उनका अनादर किया है, इसके लिए भी तुझे धिक्कार है। तथा स्वर्ग मोक्ष देने वाले जिनागम की निन्दा की है वा उसका अनादर किया है, इसके लिए भी तुझे धिक्कार है।

हे आत्मन्! तूने इन सब की निन्दा वा अनादर करके महाकुटिल दोष वा महापाप किया है। वह महापाप उन्हीं के चरण कमलों की सेवा करने से शान्त होगा। इसलिए हे आत्मन्! उन सब पापों को शान्त वा नाश करने के लिए उन्हीं अरिहन्त, सिद्ध और जिनागम के चरण कमलों की सेवा कर।

भावार्थ—अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पांच परमेष्ठी हैं। ये पांचों परमेष्ठी तथा जिनागम,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिनालय, जिनप्रतिमा और जिनधर्म ये नौ देवता वा महा-देवता कहलाते हैं। ये नौ देवता संसार से उद्धार करने वाले हैं। मोक्षप्राप्ति के कारण हैं और जगद्वन्द्य हैं। इन्द्रादिक देव भी इनकी सदा सेवा किया करते हैं। इसलिए इनकी निंदा वा अनादर करने से महापाप उत्पन्न होता है।

अशुभ वा पापरूप कर्मों में सबसे प्रबल पापकर्म दर्शन-मोहनीय कर्म है। उस दर्शनमोहनीय कर्म का आस्रव इन्हीं देवताओं की निंदा वा अनादर करने से होता है। इससे सिद्ध होता है कि इनकी निंदा वा अनादर से प्रबल महापाप उत्पन्न होता है। जिसे वज्रपाप या तीव्र मिथ्यात्व कहते हैं। यह तीव्र पाप नरक निगोद का कारण है। जिन जीवों को आत्मज्ञान नहीं है अथवा आत्मा के उत्कृष्ट गुणों में अनुराग नहीं है, वही जीव इनका अनादर कर सकता है। जो जीव आत्मा के गुणों से कुछ भी अनुराग रखता है वह कभी भी इनका अनादर नहीं कर सकता। इसलिए किसी भी विवेकी को इनका अनादर नहीं करना चाहिए।

ये नौ देवता परम पूज्य हैं। इनकी पूजा करने से प्राणी मोक्षमार्ग में लग जाता है। मोक्षमार्ग में चलने के लिए सबसे उत्तम उपाय यही है। अतएव हे आत्मन्! यदि तू पूर्व संचित पाप नाश करना चाहता है और मोक्ष का अनन्त सुख प्राप्त करना चाहता है, तो इन नौ देवताओं के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चरणों की सेवा कर, इनकी पूजा वा भक्ति कर और अपने हृदय में इनके गुण धारण कर ।

जिनधर्म और जिनप्रतिमा आदि की अमान्यता का आलोचना

जिनेन्द्रधर्मप्रतिमादिकानां,
सम्पूर्णजन्तोः परितारकाणाम् ।
श्रीवर्धिनां तद्वचसां कदाचित्,
त्वया ह्यभाग्येन प्रमादतो वा ॥४८॥
अमान्यता वाविनयः कृतश्चेत्,
तत्पापशान्त्यै हि पुनः पुनश्च ।
कुर्वात्मनिन्दां प्रतिमादिपूजां,
यतस्त्वात्मा च भवेत्प्रपूज्यः ॥४९॥

अर्थ—हे आत्मन् ! जिनधर्म, जिनप्रतिमा और जिन-वचन ये तीनों समस्त जीवों को इस संसार में पार करने वाले और सब प्रकार की लक्ष्मी को बढ़ाने वाले हैं । इस-लिए हे आत्मन् ! तूने अपने अशुभकर्म के उदय या प्रमाद से कदाचित् इनकी अमान्यता अथवा अविनय किया हो तो तूने यह महान पाप किया है । उस पाप को शान्त करने के लिए तू बार-बार अपनी निंदा कर और जिनप्रतिमा, जिनधर्म वा जिनवचन की पूजा कर । ऐसा करने से ही यह तेरा आत्मा तीन लोक में पूज्य बन सकेगा ।

भावार्थ—इस लोक में जिनधर्म सर्वोत्कृष्ट धर्म है । क्योंकि लोक में वास्तव में यही एक धर्म अहिंसा वा दया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

युक्त है। आत्मा का सर्वोत्कृष्ट कल्याण जिनेन्द्र के वचनों से ही जाना जाता है। वर्तमान काल में तीर्थङ्कर के साक्षात् दर्शन तो होते नहीं इसलिए उनके समान ही उनके वचनों से जीवों का कल्याण होता है।

तथा जिनप्रतिमा साक्षात् तीर्थङ्कर के समान सुशोभित होती है। जिस प्रकार समवसरण में श्री तीर्थङ्कर परमदेव साक्षात् विराजमान होते हैं उसी प्रकार जिनालय में श्री तीर्थङ्कर परमदेव की प्रतिमा विराजमान रहती है। दिव्य-ध्वनि के खिरने के समय को छोड़कर बाकी के समय में भगवान् तीर्थङ्कर परमदेव जिस प्रकार समवरण में निश्चल पद्मासन विराजमान रहते हैं उसी प्रकार उनकी प्रतिमा भी निश्चल और पद्मासन विराजमान रहती है। इसलिए तीर्थ-ङ्कर परमदेव और उनकी प्रतिमा में कोई अन्तर नहीं माना जा सकता।

आत्म-कल्याण करने वाला जो उपदेश दिव्यध्वनि से प्राप्त होता है, वही उपदेश उनके वचनों वा शास्त्रों से प्राप्त होता है। इसलिए कहना चाहिए कि भगवान् के वचन (जैन शास्त्र) भगवान् की दिव्यध्वनि के ही समान हैं। गणधर देवने भगवान् की दिव्यध्वनि को समझ कर ही द्वादशाङ्गरूप शास्त्रों की रचना की है। जो उनकी दिव्यध्व-नि में है वही सब शास्त्रों में है। इसलिए कहना चाहिए कि जो लोग शास्त्रों से नहीं मानते हैं अथवा उसका कुछ भाग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मानते हैं और कुछ भाग नहीं मानते वे भगवान् तीर्थङ्कर परमदेव को ही नहीं मानते।

जिनवचनों की अवज्ञा करना वा जिनप्रतिमा की अवज्ञा करना भगवान् जिनेन्द्र देव की ही अवज्ञा करना है। इसलिए हे आत्मन्! यदि तूने किसी अशुभ कर्म के उदय से जिनप्रतिमा, जिनधर्म और जिनवचन की निंदा कर महा अपराध किया हो तो तू उस पाप को शान्त करने के लिए बार-बार अपनी निंदा कर और बार बार उनकी पूजा कर। क्योंकि अपनी निंदा और पश्चात्ताप करने से कर्मों का विपाक कम हो जाता है। तथा उनकी पूजा करने से अशुभ कर्म का नाश होता है और शुभ कर्म का वन्ध होता है तथा परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है। और मोक्ष प्राप्त होने से यह आत्मा जगत्पूज्य वन जाता है।

श्रुतज्ञान की निन्दा की आलोचना

मत्यादिकस्याथ सुसत्यरूप—
ज्ञानस्य चानन्दपदप्रदस्य।
हठाच्छठत्वात्कुदृशः प्रभावात्
त्वया कृतो वाऽविनयः प्रणिन्दा ॥५०॥
तद्दोषशान्त्यै भयदे भवाब्धौ,
ज्ञानं च मुक्त्वा कुदृशा समेतम्।
ग्रहाण भक्त्या सुदृशा समेतं,
ज्ञानं यतः स्यात्सफलं नृजन्म ॥५१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ—हे आत्मन्! यदि तूने अपने हठ से, दुष्टता से अथवा मिथ्यात्व के वश होकर महापाप रूप मिथ्यात्व को नाश करने वाले और आनन्दप्रद वा मोक्ष को देने वाले सुमतिज्ञान वा श्रेष्ठ श्रुतज्ञान की निंदा की हो वा इन दोनों ज्ञानों का अविनय किया हो तो उस महादोष को दूर करने के लिए तू इस भयङ्कर संसाररूपी महासागर में कुमतिज्ञान और कुश्रुतज्ञान का त्याग कर तथा भक्तिपूर्वक सम्यग्दर्शन से सुशोभित श्रेष्ठ मतिज्ञान श्रुतज्ञान को धारण कर। ऐसा करने से ही तेरा यह मनुष्य-जन्म सफल हो सकता है।

भावार्थ—श्रुतज्ञान की निंदा वा अविनय करना महापाप का कारण है। क्योंकि जीवादिक पदार्थों का स्वरूप श्रुतज्ञान से ही जाना जाता है। पञ्चपरमेष्ठी का स्वरूप श्रुतज्ञान से ही जाना जाता है। तीर्थङ्कर परमदेव का उपदेश श्रुतज्ञान से ही जाना जाता है और आत्मा का यथार्थ शुद्ध स्वरूप श्रुतज्ञान से ही जाना जाता है। इस संसार में जीवों का जितना कल्याण श्रुतज्ञान से होता है उतना और किसी से नहीं होता। तीर्थङ्कर परमदेव तो अपने जीवन तक ही जीवों का कल्याण करते हैं परन्तु उनकी दिव्यध्वनि रूप श्रुतज्ञान अनन्तकाल तक जीवों का कल्याण करता रहता है। इस प्रकार सर्वोत्कृष्ट रीति से अनन्तकाल तक अनन्त जीवों का कल्याण करने वाले श्रुतज्ञान का अविनय करना वा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसकी निन्दा करना महापापका कारण है। जो लोग इस श्रुतज्ञान की निन्दा करते हैं वे या तो हठ से करते हैं या अपनी दुष्टता से करते हैं अथवा कुश्रुतज्ञान के चंगुल में फँस जाने के कारण करते हैं। कुश्रुतज्ञान से उत्पन्न होने वाला मिथ्यात्व गृहीतमिथ्यात्व कहलाता है। यह गृहीतमिथ्यात्व अनन्त संसार का कारण है। हे आत्मन्! यदि तू इस अनन्त संसार में परिभ्रमण करने से बचना चाहता है, तो सब से पहले इस गृहीतमिथ्यात्व वा कुश्रुतज्ञान का त्याग कर। तुझे आज तक जो महान् दुःख प्राप्त हुए हैं वे सब इस कुश्रुतज्ञान से ही हुए हैं। इसलिए अब तू सब से पहले मिथ्यात्व का त्याग कर तथा सम्यग्दर्शन को धारण कर।

सम्यग्दर्शन धारण करने के अनन्तर श्रुतज्ञान का अभ्यास कर। उसके द्वारा पञ्च परमेष्ठी का स्वरूप समझ, अपने आत्मा का स्वरूप समझ, मोक्ष वा मोक्षमार्ग का स्वरूप समझ तथा मोक्षप्राप्ति के लिए रत्नत्रय धारण कर। ये सब काम इस मनुष्य जन्म में ही हो सकते हैं क्यों कि हेय और उपादेय के समझने की शक्ति मनुष्य पर्याय में ही होती है तथा चरित्र धारण करने की शक्ति मनुष्य जन्म में ही होती है। इस प्रकार श्रुतज्ञान का अभ्यास करने से ही मनुष्य-जन्म की सफलता होती है। जो मनुष्य जन्म पाकर भी कुश्रुतज्ञानके अभ्यास में लगा रहता है वह अपना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अमूल्य मनुष्य जन्म व्यर्थ ही खो देता है। इसलिए श्रुत-ज्ञानका अभ्यास कर आत्मकल्याण अवश्य कर लेना चाहिए।

अन्य को दुःख पहुँचाने की आलोचना

मदाष्टकत्वात् त्वया खलत्वात्,
दीना दरिद्राः कुलहीनका वा।
प्रपीडिताः कावपमानिताश्च,
तेषां हठाद्वापहृतो धनादिः ॥५२॥
तत्पापशान्त्यै विनयेन कार्यः,
दत्त्वा धनं तन्मनसश्च तोषः।
यतो मिथः स्यात्स्वमनः पवित्रं,
स्याद्वा चिरं वै कलहाग्निशान्तिः ॥५३॥

अर्थ—हे आत्मन्! यदि तूने अपनी दुष्टता से अथवा धन, कुल, विद्या, राज्य, वैभव आदि से उत्पन्न होने वाली उन्मत्तता के कारण किसी दीन दरिद्री जीव को दुःख दिया हो, किसी नीच कुली मानव को दुःख दिया हो, किसी का अपमान किया हो, हठपूर्वक किसी का धन हरण किया हो अथवा और कुछ हरण किया हो, तो उस पाप को शान्त करने के लिए तू विनयपूर्वक उनको धन दे और इस प्रकार उनके मन को सन्तुष्ट कर। ऐसा करने से तुम दोनों का मन पवित्र होगा और तुम दोनों में होने वाली कलह अग्नि बहुत शीघ्र शान्त हो जायगी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—किसी को अपने ज्ञान का मद होता है, किसी को अपने बड़प्पन का मद होता है, किसी को अपने कुल का मद होता है, किसी को अपनी जाति का मद होता है, किसी को बलका मद होता है, किसी को अपनी विभूति का मद होता है, किसी को तप का मद होता है और किसी को अपने शरीर की सुन्दरता का मद होता है।

इनमें से किसी मद से उन्मत्त हो कर जीव जब किसी को दुःख पहुँचाता है वा किसी का धनादिक छीन लेता है, तब जिसका धन छीना गया है वा जिसको दुःख पहुँचा है उसके परिणाम बहुत ही संक्लेशरूप होते हैं। वह हीनशक्ति होने के कारण कुछ कर नहीं सकता, तथापि संक्लेश रूप परिणाम होनेसे वह अशुभकर्म का बन्ध करता है। साथ में उसके परिणामों में धन छीनने वाले के साथ विरोध करने का तीव्र संस्कार बैठ जाता है। जिसके कारण वह भवान्तर में उसको तीव्र दुःख पहुँचाता है। वह विरोध का संस्कार कितने ही जन्मों तक रहता है।

वह संस्कार अगले जन्मों तक न जाय इसका एकमात्र उपाय यही है कि जिसको दुःख पहुँचाया है वा जिसका धन छीना है, उसको किसी न किसी तरह सन्तुष्ट किया जाय। उसका विनय करना चाहिए तथा उसका दुःख दूर करना चाहिए और उसको धनादिक देकर सब प्रकार से सन्तुष्ट

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करना चाहिए। ऐसा करने से उसके परिणामों में जमा विरोध का तीव्र संस्कार निकल जाता है और इस प्रकार दोनों का विरोध सदा के लिए मिट जाता है। विरोध के मिट जाने से दोनों का मन पवित्र हो जाता है तथा मनके पवित्र होने से फिर वे दोनों जीव धर्म-ध्यान में लग जाते हैं और धीरे धीरे मोक्षमार्ग में चलते हुए मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए हे आत्मन्! तू भी ऐसा ही कर।

दिगम्बर मुनि की निन्दा वा अविनय की आलोचना

महाव्रती ध्यानरतो दयालुः,
स्वात्मानुरागी च भवाद्विरागः।
रत्नत्रय–स्थश्च महातपस्वी,
क्षमाकरोऽकारणबन्धुरेव ॥५४॥
एतादृशः साधुरपीह चास्ति,
तस्य प्रमादाद्भवरोगहर्तुः।
यदि प्रनिन्दाऽविनयः कृतश्चेत्,
तत्पापशान्त्यै नमतात् त्रिशुद्ध्या ॥५५॥

अर्थ—इस असार लोकमें वीतराग निर्ग्रन्थ साधु महाव्रती होते हैं वे अपनी आत्मामें लीन रहते हैं, जीवों पर दया करते हैं, केवल अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें ही अनुराग रखते हैं, इस असार संसारसे विरक्त रहते हैं, रत्नत्रय को धारण करते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं, घोर तपश्चरण करते रहते हैं, क्षमा की खानि होते हैं, विना कारण ही सब जीवों का कल्याण करने वाले बन्धु होते हैं और संसार के जन्म-मरण रूप रोग को नाश करने वाले होते हैं। हे आत्मन्! यदि ऐसे साधुओं की भी तूने अपने प्रमाद के कारण निंदा की हो वा उनका अविनय किया हो तो उस पाप को शान्त करने के लिए तू अपने मन वचन काय की शुद्धतापूर्वक उनको नमस्कार कर।

भावार्थ—इस संसार में जितने जीव हैं वे सब अपने अपने स्वार्थ में लगे हुए हैं। जिससे स्वार्थ सिद्ध होता दिखाई देता है कुटुम्बी लोग उसी की सेवा करते हैं। जिससे अपना स्वार्थ बन्द हो जाता है, फिर उससे बात तक नहीं करते। ऐसे इस स्वार्थ पूर्ण संसार में एक निर्ग्रन्थ साधु ही समस्त जीवों के बिना कारण बन्धु होते हैं।

वे साधु वीतराग और निःस्पृह होने के कारण किसी भी पदार्थ की वाञ्छा नहीं करते। यहां तक कि भिक्षावृत्ति धारण करते हुए भी किसी से आहार की भी वाञ्छा नहीं करते। आहार भी जहां शुद्धतापूर्वक मिल जाता है, या जो भी मिलता है उसे ग्रहण करते हैं। उस आहार के सहारे घोर तपश्चरण करते हुए अपने आत्मा का तथा अन्य जीवों का कल्याण करते रहते हैं।

ऐसे मुनियों की निंदा करना वा उनका अविनय करना महापाप का कारण है तथा वह महापाप उन्हीं की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूजा वन्दना से दूर हो सकता है। यद्यपि वे साधु अपनी निंदा वा अपने अविनय से किसी से द्वेष नहीं करते और न पूजा वन्दना करने वाले से अनुराग रखते हैं। वे तो वीतराग होने के कारण दोनों को समान समझते हैं और समय पड़ने पर दोनों को समान कल्याणकारी उपदेश देते हैं।

तथापि जिस प्रकार दर्पण के सामने अच्छा बुरा जैसा पदार्थ रक्खा जाता है, वैसा ही पदार्थ उसमें दिखाई पड़ता है। उसी प्रकार दर्पण के समान निर्मल आत्मा को धारण करने वाले साधुओं के साथ जैसा व्यवहार किया जाता है, वैसा ही अच्छा वा बुरा उसका फल मिलता है, यह स्वाभाविक बात है। इसलिए वीतराग साधुओं की निंदा वा अविनय कभी नहीं करना चाहिए।

हे आत्मन्! यदि तूने ऐसे साधुओं की निंदा की हो वा उनका अविनय किया हो, तो तू उसका पश्चात्ताप कर तथा उन पापों को नाश करने के लिए तू उनके चरण कमलों की पूजा कर। ऐसा करने से तेरा आत्मा पवित्र होगा, रत्नत्रय की प्राप्ति होगी और शीघ्र ही मोक्षरूप अनन्त सुख की प्राप्ति होगी।

उत्तम, मध्यम, जघन्य श्रावकों की निन्दा की आलोचना

देशव्रती शीलशिखामणिश्च,
धर्मानुरागी पर-रक्षकश्च।
पूजा-सुदान - व्रतमौन-धारी,
सन्तोषकारी स्वपरोपकारी ॥५६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुणैरमीभिः सहिताः सुश्रद्धाः,
सन्त्यत्र निन्दा हि कृता कदाचित् ।
तेषां कुरु त्वं विनयादिसेवां,
यतस्त्वात्मात्र सुखी कृती स्यात् ॥५७॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्र देव के कहे हुए एकदेश चारित्र को धारण करने वाले श्रावक कहलाते हैं। वे श्रावक अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत इन बारह व्रतों को पालन करते हैं, शील पालन करने में सर्वोत्कृष्ट होते हैं, रत्नत्रयरूप धर्म में अनुराग रखते हैं, समस्त जीवों के प्राणों की रक्षा करते हैं, प्रतिदिन भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजा करते हैं, प्रतिदिन पात्रदान देते हैं, प्रतिदिन व्रत पालन करते हैं और प्रतिदिन कार्यों में शास्त्रोक्त मौन धारण करते हैं। इसके सिवाय वे श्रावक सब को संतुष्ट रखते हैं, अपने आत्मा का कल्याण करते रहते हैं और अन्य जीवों का कल्याण करते रहते हैं। इन समस्त धर्मों को पालन करने वाले जितने श्रावक इस संसार में हैं उनकी वा उनमें से किसी की तूने कदाचित् निंदा की हो तो हे आत्मन्! अब तू उनकी सेवा कर जिससे कि तेरी आत्मा कृतार्थ और सुखी हो जाय।

भावार्थ—श्रावक के तीन भेद हैं। प्रारब्ध, घटमान और निष्पन्न। जो मूलगुण पालन करता है और बारह व्रतों का अभ्यास करता है उसे प्रारब्ध कहते हैं। जो प्रतिज्ञारूप से बारह व्रतों का निरतिचार पालन करता है उसे घटमान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहते हैं। और जो प्रतिमाओं का पालन करना यथासमय समाधि धारण करता है उसे निष्पन्न कहते हैं।

नैष्ठिक श्रावक तीन प्रकार के होते हैं। उत्तम, मध्यम और जघन्य। पहली प्रतिमा से लेकर छठी प्रतिमा तक पालन करने वाले श्रावक जघन्य नैष्ठिक श्रावक कहलाते हैं। जो सातवीं, आठवीं, नौवीं प्रतिमा का पालन करते हैं उन्हें मध्यम नैष्ठिक श्रावक कहते हैं और जो दशवीं या ग्यारहवीं प्रतिमा का पालन करते हैं उनको उत्तम नैष्ठिक श्रावक कहते हैं।

ये सब श्रावक सुपात्रदान और जिनपूजन करने में सदा तत्पर रहते हैं। छठी प्रतिमा तक के श्रावक न्यायपूर्वक धन कमाते हैं, पापों से सदा डरते रहते हैं, धर्म का कभी घात नहीं करते, धर्मसाधन करने के श्रेष्ठ स्थानों में रहते हैं, अपने योग्य आहार विहार करते हैं, सज्जन धर्मात्मा पुरुषों की संगति में रहते हैं। ऐसे श्रावक जिनधर्म के प्राण व रक्षक होते हैं। बिना ऐसे श्रावकों के मुनि मार्ग का चलना भी असम्भव होजाता है। क्योंकि मुनियों के शरीर की स्थिति श्रावकों के ही आश्रित है, इसलिए ऐसे धर्मात्मा श्रावकों का अविनय करना अथवा उनकी निंदा करना महापाप का कारण है।

हे आत्मन् ! यदि तूने ऐसे श्रावकों की निंदा की हो वा उनका अविनय किया हो, तो तू उसका पश्चात्ताप कर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उनसे क्षमा मांग और उनकी सेवा शुश्रूषा कर । ऐसा करने से तेरे पाप शान्त होंगे, तेरा आत्मा सुखी होगा और कृतार्थ समझा जायगा तथा आत्मा में सरलता आजाने से तू परम्परा से मोक्ष प्राप्त कर अनन्त सुखी हो सकेगा।

चारों गतियों के प्राणियों को दुःख देने की आलोचना

देवा प्रलोभान्मनुजाश्च मानात्,
भयङ्करान्नारकिनः प्रकोपात् ।
स्यु र्मायया वा पशवो जगत्यां,
चतुर्विधे दुःखमये विचित्रे ॥५८॥
विपत्प्रकीर्णे भ्रमता भवे हि,
त्वया विदग्धा असुभि र्विमुक्ताः ।
तत्तापशान्त्यै कुरु तान् स्वकीयान्,
नश्येत्प्रकोपोऽपि यतश्च तेषाम् ॥५६॥

अर्थ—चारों गतियों के भेद से यह संसार चार प्रकार का है। यह चारों प्रकार का संसार अत्यन्त दुःखमय है, विपत्तियों से भरा हुआ है। इसमें तीव्र लोभ के कारण देवगति प्राप्ति होती है। मान कषाय की तीव्रता से मनुष्य-गति प्राप्त होती है। क्रोध की तीव्रता से नरकगति प्राप्ति होती और मायाचारी करने से तिर्यञ्चगति प्राप्त होती है।

हे आत्मन् ! तूने भी इन चारों गतियों रूप संसार में सदाकाल से चारों कषायों के निमित्त से ही परिभ्रमण किया है । इस प्रकार परिभ्रमण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करते हुए तूने यदि कोई पशु वा मनुष्य विदीर्ण किया हो, जलाया हो अथवा किसी के प्राण हरण किए हों तो तू उन सब पापों को शान्त करने के लिए उन सबको अपना बना। ऐसा करने से उन सब का क्रोध शान्त वा नष्ट हो जायगा।

भावार्थ—गति भी चार हैं और कषाय भी चार हैं। जिस प्रकार धन इकट्ठा करने का लोभ होता है उसी प्रकार जिनपूजन वा सुपात्रदान देकर अधिक पुण्योपार्जन करने का भी लोभ होता है। ऐसे पुण्योपार्जन करने के लोभ से यह जीव उत्तम देव होता है तथा धनादिक के लोभ से नीच देव होता है।

मैं उत्तम श्रावक हूँ, श्रावक होकर मुझे पापकार्य वा निन्द्य कार्य नहीं करना चाहिये। पापकार्य वा निन्द्य कार्य करना नीच लोगों का काम है। इस प्रकार के स्वात्माभिमान से उत्तम मनुष्य होता है तथा अभिमान करने से साधारण वा नीच मनुष्य होता है। मायाचारी करने से पशु होता है और क्रोध कषाय से नारकी होता है। इस प्रकार क्रोध मान माया लोभ इन चारों कषायों से प्राणी संसार में परिभ्रमण करता है। तूने भी इन चारों गतियों में परिभ्रमण किया है और कर रहा है।

हे आत्मन् ! यदि तूने इन जीवों में से किसी जीवको सताया हो वा जलाया हो, किसी की इन्द्रियां नष्ट की हों वा किसी के प्राण हरण किए हों तो तू उनसे क्षमा मांग, अपने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हृदय में पश्चाताप कर और जिस प्रकार हो सके उस प्रकार उनके क्रोध को शांत कर ऐसा करने से तेरा आत्मा पवित्र हो जायगा तथा आत्मा और मन के पवित्र होने से पाप-कर्मों का नाश होगा, पुण्यकर्म का बंध होगा तथा समया-नुसार रत्नत्रय की प्राप्ति होकर अनंतसुख की प्राप्ति होगी ।

अन्य कुकर्म करने की आलोचना

संसारसन्तापविवर्धकानां,
कोपाद्यरीणांविवशो हि भूत्वा
भवान्तरेऽशान्तिप्रदं व्यथादम्
हेयं प्रणिन्द्यं कृतवान् कुकर्म ॥६०॥
तत्पापशान्त्यै च कषायकाण्डं,
त्यक्त्वा तथा मोहपिशाचसङ्गम् ।
स्वानन्दसिन्धौ च रमस्व चात्मन्,
यतः प्रिया स्यात्तव मोक्षलक्ष्मीः ॥६१॥

अर्थ—हे आत्मन् ! क्रोध, मान, माया, लोभ ये चारों कषायें जन्म-मरणरूप संसार को बढ़ाने वाली हैं। इन्हीं कषायों के वशीभूत होकर तूने सर्वथा त्याग करने योग्य अत्यन्त निन्दनीय और परलोक में भी विषम दुःख देने वाले कुकर्म किये हैं। हे आत्मन् ! अब तू उन पापों को नाश करने के लिये चारों कषायों का त्याग कर तथा मोहरूपी पिशाच का त्याग कर और आत्मजन्य अनुपम आनन्द के समुद्र में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रीडा कर। ऐसा करने से ही मोक्षलक्ष्मी तुझ से अनुराग करेगी।

भावार्थ—हे आत्मन्! क्रोध के निमित्त से तूने न जाने कितने जीवों का घात किया, न जाने कितने जीवों का धन हरण किया, न जाने कितने जीवों को दुःख पहुँचाया व चोट पहुँचाई और न जाने कितने जीवों का स्थान भ्रष्ट किया है। मान कषाय के निमित्त से न जाने कितने गरीबों को सताया और न जाने कितने पूज्य पुरुषों का अनादर किया है। मायाचारी करके न जाने कितने घर नष्ट किये, न जाने कितनी स्त्रियों का शील हरण किया, न जाने कितने जीवों को घोर आपत्ति में फँसा दिया और न जाने कितने जीवों का सर्वस्व हरण किया।

इसी प्रकार लोभ कषाय के निमित्त से न जाने कितने निन्दनीय कार्य किए, न जाने कितने धर्म कार्यों में परिवर्तन किया और न जाने कितने धर्मात्माओं को धर्म करने से रोका। इस लोभ के ही निमित्त से सुपात्रदान नहीं दिया और न कभी जिनपूजन की। कहां तक कहा जाय इस लोभ के ही कारण आज तक मन्दिर प्रतिष्ठा, समदत्ति आदि कोई भी पुण्य कार्य नहीं किया। हे आत्मन्! इन्हीं सब कारणों से तू आज तक चारों गतियों में परिभ्रमण करता रहा।

अब तू यदि अपने आत्मा का कल्याण चाहता है तो इन चारों कषायों का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्याग कर तथा कषायों को उत्पन्न करने वाले मोह का सर्वथा त्यागकर और अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप में क्रीड़ा कर। ऐसा करने से ही मोक्षरूपी लक्ष्मी तुझ पर प्रसन्न होगी और सदाकाल रहने वाला अनन्त सुख देगी।

किसी का यश, धन वा अन्नपान के हरण करने की आलोचना

निर्दोषजन्तोरपि दुष्टबुद्ध्या,
त्वयात्महन्त्राऽखिलपापकर्त्रा।
वस्त्रान्न–मुद्रा–सुयशोधनानि,
गजाश्वहर्म्याणि विभूषणानि ॥६२॥
सुनिर्दयत्वेन हृतानि यस्मात्,
तत्पापशान्त्यै वसनादिकं वै।
दत्वा कुरु त्वं हि तदात्मशान्तिं,
यतस्तवात्मात्र भवेद् वरिष्ठः ॥६३॥

अर्थ—हे आत्मन्! तीव्र कषायों द्वारा अपने आत्मा का घात करने वाले और सब प्रकार के पाप करने वाले तूने अपनी दुर्बुद्धि से निर्दय होकर निर्दोष जीवों के वस्त्र, अन्न, पान, धन, यश, हाथी, घोड़े, मकान और आभूषण आदि हरण किए हैं। इसलिए हे आत्मन्! उन पापों को शान्त करने के लिये वस्त्रादिक देकर उनके हृदयको अत्यन्त शान्त कर। ऐसा करनेसे तेरा यह आत्मा सर्वोत्कृष्ट होगा।

भावार्थ—कषायों के निमित्त से यह आत्मा परकीय पदार्थों का हरण करता है। जिस समय यह आत्मा किसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का कुछ अपहरण करने के लिए अपने में तीव्र कषाय उत्पन्न करता है उस समय वह उस कषाय से अपने आत्मा का घात करता है। दूसरे के धनादिक का अपहरण हो वा न हो परन्तु कषाय उत्पन्न होनेसे उसकी आत्मा काघात अवश्य हो जाता है और आत्मघात करना सबसे बड़ा पाप कहलाता है।

हे आत्मन्! यदि तू इस महापाप से बचना चाहता है तो अपने आत्मा में कभी कषाय उत्पन्न न होने दे। अपने आत्मा में कषाय उत्पन्न न होने पर दूसरों के धनादिक के अपहरण करने के परिणाम ही नहीं होंगे। इस प्रकार यह आत्मा समस्त पापों से बच जायगा।

हे आत्मन्! अब तक जो तूने अनेक निर्दोष प्राणियों के धनादिक का अपहरण कियाहै। उसके लिये स्वयं पश्चा-त्ताप कर, उनसे क्षमा मांग और उनको सब तरह से सन्तुष्ट कर। इस प्रकार पापों के नष्ट होने से और आत्मा में निर्म-लता हो जाने से यह आत्मा उत्कृष्ट और प्रशंसनीय हो जाता है।

आरम्भादिक से होने वाले एकसौ आठ पापों की आलोचना

पञ्चसूनाक्रियायां वा, कृष्यादौ सुप्रवृत्तितः।
संरम्भाद्यैः कषायैश्च, योगैर्वापि कृतादिकैः।
अष्टोत्तरशतं पापं, नित्यमात्मनि जायते।
तत्पापक्षालनार्थं हि, भक्त्या देवार्चनादिकम्॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अष्टोत्तरशतं जाप्यं, सत्प्रतिक्रमणादिकम् ।
निजात्मचिन्तनं नित्यं, क्रियतां धर्मद्योतनम् ॥६६॥

अर्थ—इस संसार में प्रत्येक गृहस्थ के घर चक्की पीसी जाती है, उखली में धान्य कूटा जाता है, चूल्हा जलाया जाता है, बुहारी दी जाती है और पानी भरा जाता है। इन सब कामों में थोड़ी बहुत हिंसा अवश्य होती है। इसीलिये इनको पंचसूना वा पंचपाप कहते हैं। इसके सिवाय प्रत्येक गृहस्थ के घर कमाने खाने के लिये जीविका करनी पड़ती है। उसके लिए या तो खेती की जाती है या व्यापार किया जाता है अथवा देश की रक्षा के लिए सेना में रहा जाता है या किसी की मुनीमी करना पड़ती है या किसी की सेवा करनी पड़ती है अथवा कोई कारीगरी का काम करना पड़ता है। इस प्रकार आजीविका के लिए इन छह कार्यों में से कोई भी कार्य करना पड़ता है।

इन कार्यों को कोई क्रोध से करता है, कोई मान से करता है, कोई माया से करता है और कोई लोभ से करता है। तथा कोई स्वयं करता है, कोई कराता है और कोई अनुमोदना करता है। कोई मन से करता कराता है कोई वचन से करता कराता है और कोई काय से करता कराता है। कोई संरम्भरूप ही करता है, कोई समारम्भरूप करता है और कोई आरम्भरूप करता है वा कोई संरम्भ समारम्भ आरम्भ तीनों रूप करता है।

इस प्रकार प्रत्येक गृहस्थ को प्रतिदिन इन सबसे होने वाले एक सौ आठ प्रकार के पाप अवश्य लगते हैं। इन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सब पापों को नाश करने के लिए प्रतिदिन देव-पूजा करनी चाहिए, अपने आत्मा का चिंतवन करना चाहिये, धर्म का उद्योत करना चाहिए और एकसौ आठ वार भगवान अरिहंत देव का जाप करना चाहिए।

भावार्थ—किसी कार्य को करने के लिए चिन्तवन करना संरम्भ कहलाता है। कारण सामग्री इकट्ठी करना समारम्भ कहलाता है। और उस कार्य को प्रारम्भ करना आरम्भ कहलाता है। ये तीनों क्रोध मान माया लोभ इन चारों कषायों से मन वचन काय के द्वारा स्वयं किये जाते हैं, कराये जाते हैं और उनकी अनुमोदना की जाती है। इस प्रकार इसके सब भेद एक सौ आठ हो जाते हैं। जो नीचे लिखे कोष्ठक से स्पष्ट रीति से समझ में आ जाते हैं।

क्रोध १	मान २	माय ३	लोभ ४
कृत ०	कारित ४	अनुमोदना ८	
काययोग ०	वचनयोग १२	मनयोग २४	
सम्रम्भ ०	समारम्भ ३६	आरम्भ ७२	

संरम्भ आरम्भ का लक्षण ऊपर लिख चुके हैं। क्रोध मान माया लोभ ये चार कषाय हैं। कृत स्वयं करने को कहते हैं कारित कराने को कहते हैं। और अनुमोदना भला मानने वा सम्मति देने को कहते हैं। शरीरसे करने को काय योग कहते हैं वचन से कहने को वचन योग कहते हैं। और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मन से करने को मनोयोग कहते हैं। इनके एकसौ आठ भेद इस प्रकार हैं।

क्रोधकृतकायसंरम्भ, १ मानकृतकायसंरम्भ २ मायाकृतकायसंरम्भ ३ लोभकृतकायसंरम्भ ४ अर्थात् क्रोध, मान, माया वा लोभ से शरीर से स्वयं किया हुआ संरम्भ तथा क्रोधकारित कायसंरम्भ ५, मनःकारित कायसंरम्भ ६, मायाकारित कायसंरम्भ ७, लोभकारित कायसंरम्भ ८, अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ से शरीर के द्वारा कराया हुआ संरम्भ तथा क्रोधानुमतकायसंरम्भ ९, मानानुमतकायसंरम्भ १०, मायानुमत कायसंरम्भ ११, लोभानुमत कायसंरम्भ १२। अर्थात् क्रोध मान माया लोभ से शरीर के द्वारा अनुमोदना किया हुआ संरम्भ। इस प्रकार शरीर से होने वाले बारह भेद होते हैं। इसी प्रकार वचन से होने वाले संरम्भ के भी बारह भेद होते हैं यथा कायकृतवचनसंरम्भ, मानकृतवचनसरंम्भ, मायाकृतवचनसंरम्भ, लोभकृतवचनसंरम्भ, कायकारितवचनसंरम्भ, मानकारितवचनसंरम्भ, मायाकारितवचनसंरम्भ, लोभकारितवचनसंरम्भ। कायअनुमतवचनसंरम्भ, मानानुमतवचनसंरम्भ, मायाकारितवचन-संरम्भ, लोभकारितवचनसंरम्भ।

आगे मन से होने वाले बारह प्रकार संरम्भ को बतलाते हैं। कायकृतमनःसंरम्भ, मानकृतमनःसंरम्भ, मायाकृतमनःसंरम्भ, लोभकृतमनःसंरम्भ, कायकारितमनःसंरम्भ, मान-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कारितमनःसंरम्भ, मायाकारितमनःसंरम्भ, लोभकारितमनःसंरम्भ, क्रोधानुमतमनःसंरम्भ, मानानुमतमनःसंरम्भ, मायानुमतमनःसंरम्भ, और लोभानुमतमनःसंरम्भ। इस प्रकार शरीर, वचन और मन से वारह वारह प्रकार का संरम्भ होता है। इस प्रकार संरम्भ के छत्तीस भेद होते हैं। इसी प्रकार समारम्भ के छत्तीस भेद होते हैं और आरम्भ के भी छत्तीस भेद होते हैं। सब मिलकर एकसौ आठ भेद होते हैं।

इनमें से यदि बीच की संख्या निकालना हो तो कोष्टक में दिये हुए अङ्कों को जोड़ लेना चाहिए। जहां दो वा तीन संख्या मिल जाय तो शेष शून्य संख्या का कोष्टक समझना चाहिए। जैसे किसी ने पूछा कि बत्तीसवीं संख्या कौनसी है तो पहली पंक्ति का चार, दूसरी पंक्ति का चार और तीसरी पंक्ति का चौबीस मिलकर बत्तीस हो जाते हैं। इसलिए शेष की पंक्ति की शून्य संख्या समझना चाहिए। इस प्रकार बत्तीसवां भेद लोभकारितमनः संरम्भ नाम का होता है।

इसी प्रकार यदि कोई पूछे कि मायाकारित मनःसमारम्भ नाम का कौनसा भेद है तो इन नामों की तीन, चार, चौबीस और छत्तीस संख्या जोड़ लेने से सड़सठ संख्या होती है। इसलिए सड़सठवां भेद मायाकारितमनः समारम्भ नाम का समझना चाहिए। इसी प्रकार संख्या से नाम और नाम से संख्या निकाल लेना चाहिए। ये एकसौ आठ पाप आनेके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साधन हैं। इनके द्वारा प्रतिदिन न जाने कितनी बार पाप आते रहते हैं। इसलिए ही आचार्यों ने समस्त पापोंको शान्त करनेके लिए एकसौ आठ दाने की माला जपनेका उपदेश दिया है।

यह माला गृहस्थों को प्रतिदिन तीन बार जपना चाहिये। यदि तीन बार न जप सके तो शाम, सवेरे दोबार तो अवश्य जपना चाहिए। जप में पंच परमेष्ठी का नाम होना चाहिए। पंच नमस्कार मंत्र का जप करना सर्वोत्कृष्ट है तथा इसका माहात्म्य भी सर्वोत्कृष्ट है। इसके सिवाय दोनों समय अपने शुद्ध आत्मा का चिन्तवन करना चाहिए। प्रतिदिन दोनों समय प्रतिक्रमण और प्रातः जिनेन्द्रदेव का पूजन करना चाहिए। तथा रथोत्सव वा बिम्ब प्रतिष्ठा आदि के द्वारा जिनधर्म की प्रभावना करना चाहिए। ऐसा करने से पूर्व-संचित पाप नष्ट होजाते हैं और आगे भविष्य में स्वर्गादिक सुखोंकी प्राप्ति होती है तथा परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

कुगुरु तथा कुशास्त्र की स्तुति प्रशंसा की आलोचना

सरागमूर्तेः कुगुरोः कुनीतेः,
स्तुतिः प्रशंसा गुरुदेवबुद्ध्या।
त्वया प्रलोभाच्च नतिः कृता चेत्,
निजात्मशुद्ध्यै कुरु तद्वियोगम् ॥६७॥
जिनोक्तशास्त्रस्य गुरोः समीचः,
संयोगमेवं कुरु चित्तशुद्ध्या।
यथार्थरूपाश्च भजस्व तान्,
नृजन्म लब्ध्वा हि लभस्व मुक्तिम् ॥६८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ—हे आत्मन्! यदि तूने गुरु समझकर रागीद्वेषी कुगुरुओं की स्तुति की हो, उनकी प्रशंसा की हो, किसी लोभ के कारण उनको नमस्कार किया हो अथवा कुनीत प्रदर्शक कुशास्त्र की स्तुति की हो, प्रशंसा की हो वा किसी लोभ से उसको नमस्कार किया हो तो तू अपने आत्मा को शुद्ध करने के लिये उन कार्यों का त्याग कर तथा पवित्र मन से जिनेंद्रदेव के कहे हुये शास्त्रों का पठन पाठन कर और कृपा के सागर निर्ग्रन्थ गुरु को मान। सदा यथार्थ देव, शास्त्र, गुरु का आराधन कर जिससे कि मनुष्य जन्म प्राप्त होकर तुझे शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति हो।

भावार्थ—हे आत्मन्! इस संसार में कुगुरु और कुशास्त्र का सम्बन्ध महान् दुःखदायी है। कुगुरु और कुशास्त्रों के सम्बन्ध से नरकादिक के दुःख मिलते हैं। रागद्वेष को धारण करने वाले, विविध आरम्भ करने वाले वा खेती वाड़ी करने वाले अथवा कुटी बनाकर रहने वाले, चरस भांग गांजा आदि पीने वाले जितने साधु हैं वे कुगुरु कहलाते हैं। ऐसे कुगुरु पत्थर की नाव के समान होते हैं। जो स्वयं डूबते हैं और अपने शिष्यों को ले डूबते हैं।

इसी प्रकार कुशास्त्र वा मिथ्या शास्त्र इनसे भी अधिक पाप उत्पन्न कराते हैं। अनन्त संसार में परिभ्रमण करने वाला गृहीत मिथ्यात्व कुशास्त्रों के पठन, पाठन, श्रवण से ही होता है। ये दोनों ही इस जीव को नरकादि के दुःख देने वाले हैं। इसलिए हे आत्मन्!

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदि तू अपना कल्याण चाहता है तो सबसे पहले इनका त्याग कर। इनका त्याग किये बिना तेरा कल्याण नहीं हो सकता।

जो साधु वीतराग हों, परिग्रह न रखते हों, आरम्भ न करते हों और जो काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, तृष्णा, लालसा आदि सब प्रकार के विकारों से रहित हों ऐसे गुरु स्वयं पार होते हैं और शिष्यों को भी पार कर देते हैं। इसी प्रकार वीतराग, सर्वज्ञ देव का कहा हुआ शास्त्र ही यथार्थ-शास्त्र हो सकता।

इस संसार में जो वीतराग होता है वही पक्षपातरहित होता है, वही यथार्थ उपदेश दे सकता है तथा सर्वज्ञ होने से वह स्थूल, सूक्ष्म, वा दूरवर्ती पदार्थों को यथार्थ रीति से निरूपण कर सकता है। जो वीतराग और सर्वज्ञ है उसके लिए मिथ्या उपदेश देनेका कोई कारण ही नहीं। जो सर्वज्ञ नहीं है अर्थात् जो समस्त पदार्थों को नहीं जानता वह सूक्ष्म वा दूरवर्ती पदार्थों को यथार्थ रीति से नहीं कह सकता। अथवा जो वीतराग नहीं होता, राग द्वेष धारण करता है वह भी किसी पक्षपात के वशीभूत होकर मिथ्याभाषण कर सकता है। भगवान् जिनेन्द्रदेव सर्वज्ञ भी हैं और वीतराग भी हैं। इसलिए उनके कहे हुए शास्त्रों की कभी कोई बात मिथ्या नहीं हो सकती। अतएव आत्मकल्याण के लिए भगवान् जिनेन्द्रदेव के कहे हुए शास्त्रों का ही शरण लेना चाहिये, उन्हीं का पठन पाठन करना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्तमान समय में जैनधर्म धारक कितने ही विद्वान् विजातीयविवाह, स्पर्शास्पर्श लोप अथवा विधवा-विवाह को उचित मानते हैं। वह सब कुशास्त्रों के पठन-पाठन का फल है। ऐसे पुरुषों के लिखे हुए ग्रन्थ अथवा कहा हुआ उपदेश कभी मान्य नहीं हो सकता। इसलिए हे आत्मन्! तू भी अपने कल्याण के लिए जिनेन्द्रदेव के कहे हुए शास्त्रों का तथा निर्ग्रन्थ गुरुओं का शरण ले। इसी से तू संसार समुद्र से पार होगा।

प्रातःकाल का चिंतवन

बन्धुश्च मे कोऽस्त्यहमेव तस्य,
कों कोऽस्ति धर्मोऽपि मम प्रदेशः।
कीदृग् हि कृत्यं करणीयमस्ति,
तथा परेषां हितकारकं किम् ॥६६॥
एवं विचारः सुखदश्च कार्यः।
प्रातः समुत्थाय च चित्तशुद्धया।
यतः स्वयं त्वं हि भवेः पवित्रः,
अमुत्र स्वस्थश्च सुकीर्तिमान्तः।

अर्थ—हे आत्मन्! यदि तू अपने आत्मा को पवित्र करना चाहता है और सब को सुख पहुँचाना चाहता है तो प्रातःकाल उठ कर ही अपने चित्त की शुद्धतापूर्वक सुख देने वाला इस प्रकार का विचार (चिंतवन) कर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कि इस संसार में मैं कौन हूँ ? मेरा हित करने वाला बन्धु कौन है ? मेरा धर्म क्या है ? मेरे आत्मा के प्रदेश कैसे हैं ? मुझे क्या क्या कार्य करना चाहिए ? और अन्य जीवों का हित किस प्रकार हो सकता है ?

भावार्थ—प्रातःकाल जो चिंतवन किया जाता है वह दिन भर चित्त में बना रहता है। इसलिए हे आत्मन् ! तू भी प्रातः उठकर प्रतिदिन यह चिंतवन कर कि मैं कौन हूँ? अर्थात् मैंने किस पर्याय में जन्म लिया है। पहले किन किन पर्यायों में परिभ्रमण किया है। किस पुण्यकर्म के उदय से मनुष्य पर्याय में उत्पन्न हुआ हूं? इस पर्याय में मेरे आत्मा का कल्याण करनेवाला बंधु कौन है ? क्या कुटुम्बी लोगों से मेरे आत्मा का कल्याण हो सकता है ? मेरे आत्मा का स्वभाव वा धर्म क्या है, क्या मैं अपने आत्मा के धर्म के अनुसार चलता हूं ? अथवा उसके विपरीत चलता हूं ? मेरे आत्मा के प्रदेश मलिन हैं अथवा निर्मल? यदि मलिन हैं तो उन्हें किस प्रकार निर्मल करना चाहिये। ऐसे कौन से कार्य करने चाहिये जिनसे यह मेरा आत्मा निर्मल हो सकता है तथा इस मेरे आत्मा से किस प्रकार अन्य जीवों का कल्याण हो सकता है।

हे आत्मन् ! यदि तू प्रतिदिन प्रातःकाल शय्या से उठकर इस प्रकार चिंतवन करता रहेगा तो अवश्य ही मोक्ष-मार्ग में लग जायगा तथा अपने आत्मा को पवित्र बनाकर अन्य प्राणियों का भी कल्याण करेगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिथ्यात्व और आर्त रौद्र ध्यान के त्याग का उपदेश

रौद्रार्तभावौ भवबन्धहेतू,
मिथ्याविषं चासुहरं विमुच्य।
ध्यानं च धर्म्यं सुसमाधिमूलं,
सेवां मुनीनां कुरु मोक्षदां वा ॥७१॥
समस्तसन्तापविनाशकं यत्,
सामायिकं शान्तिकरं सदैव।
स्थातुंस्वधर्मे हि तथा यतस्व,
यतस्तवात्मा प्रभवेज्जिनेन्द्रः ॥७२॥

अर्थ—हे आत्मन्! यदि तू अपने आत्मा को जिनेंद्र देव के समान बनाना चाहता है तो जन्म-मरणरूप संसार के बन्ध के मूल कारण आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान का सर्वथा त्याग कर, समस्त जीवों के प्राणों को हरण करने वाले मिथ्यात्व रूप का विष का सर्वथा त्याग कर।

समाधिमरण के मूल कारण धर्मध्यान को धारण कर, मोक्ष देने वाली मुनियों की सेवा कर, समस्त सन्ताप को नाश करने वाले तथा आत्मा में सदाकाल शांति स्थापन करने वाले सामायिक को सदाकाल कर और अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप में स्थिर रहने के लिए इस प्रकार प्रयत्न कर कि जिससे यह तेरा आत्मा स्वयं जिनराज पद पर विराजमान हो जाय।

भावार्थ—ध्यान के चार भेद हैं। आर्तध्यान, रौद्रध्यान धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आर्तध्यान के चार भेद हैं। किसी पुत्र आदिक इष्ट पदार्थ का वियोग होने पर उसके संयोग के लिए बारबार चिंतवन करना, शत्रु आदि किसी अनिष्ट पदार्थ का संयोग होने पर उसके वियोग के लिए बार बार चिंतवन करना, किसी रोग के होने पर दूर होने के लिए बारबार चिंतवन करना और आगामीकालके लिए वा आगेके जन्म के लिए भोगों की इच्छा करना ये चार आर्तध्यानके भेद हैं।

हिंसामें आनन्द मानकर उसका बार-बार चिंतवन करना, मिथ्याभाषण करनेमें आनन्द मानकर उसके लिए बार-बार चिंतवन करना, चोरीमें आनन्द मानकर उसके लिए बार-बार चिंतवन करना और परिग्रहमें आनन्द मानकर उसके संग्रह के लिए बारबार चिंतवन करना। ये चार रौद्रध्यानके भेद है। इनमें से रौद्रध्यान नरक का कारण है आर्तध्यान तिर्यश्चादिक गति का कारण है। ये दोनों ध्यान जन्ममरण रूप संसार को बढ़ाने वाले हैं।

धर्म के स्वरूप का चिंतवन करना धर्मध्यान है। उसके भी चार भेद हैं। जिनेन्द्रदेव की आज्ञा मानना वा उसके प्रसार के लिये प्रयत्न करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है। इस संसार में जो जीव मिथ्यादृष्टि वा दुःखी हैं उनका मिथ्यात्व वा दुःख किसप्रकार छूट सकता है, इस प्रकार बारबार चिंतवन करना अपायविचय धर्मध्यान है। इस संसारमें जो सुख दुःख मिलताहै वह कर्मों के उदय से ही मिलता है। दूसरे लोग तो उसमें निमित्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कारण है यही समझ कर सुख दुःख दोनों में समता धारण करना और कर्मके उदयका चिन्तवन करना विपाकविचय नाम का धर्मध्यान है। इसी प्रकार लोकाकाशके स्वरूप का वा उसमें भरे हुए समस्त पदार्थों का तथा मुख्यतया आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन करना संस्थानविचय नामका धर्मध्यान है। इसप्रकार ये चारों धर्म ध्यान परम्परासे मोक्षके कारण हैं।

पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये चार शुक्लध्यानके भेद हैं। जिसमें तीनों योगोंके द्वारा अनेक पदार्थोंका चिन्तवन किया जाता है उसे पृथक्त्ववितर्क कहते हैं। जिसमें किसी एक योगके द्वारा किसी एक ही पदार्थ का चिंतवन किया जाता है। जिसमें किसी प्रकार का वीचार नहीं होता अर्थात् जिस चिन्तवनमें न तो पदार्थोंका संक्रमण होता है, न शब्दोंका संक्रमण होता है और न योगोंका संक्रमण होता है उसको एकत्ववितर्क शुक्लध्यान कहते हैं।

संक्रमणका अर्थ बदलना है, चिन्तवन करते करते एक पदार्थको छोड़कर दूसरे पदार्थका चिंतवन करने लगना वा एक शब्द को छोड़कर दूसरे शब्दसे चिंतवन करने लगना अथवा किसी एक योगसे चिन्तवन करते हुए किसी दूसरे योगसे चिन्तवन करने लगना वीचार या संक्रमण कहलाता है। यह वीचार पहले शुक्लध्यानमें होता है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूसरेमें नहीं। ये दोनों शुक्लध्यान श्रुतकेवलियों के होते हैं।

जो आत्मचिंतवन केवल काययोगसे किया जाता है और जिसमें क्रियाका सम्पर्क अति सूक्ष्मरीति से होता है उसे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नामका तीसरा शुक्लध्यान कहते हैं। जो ध्यान विना किसी योगके केवल आत्माके द्वारा होता है जिसमें क्रियाका संबन्ध सर्वथा छूट जाता है ऐसा चौदहवें गुणस्थानमें रहने वाला ध्यान व्युपरतक्रियानिवर्ति शुक्लध्यान है ये चारों ध्यान साक्षात् मोक्ष के कारण हैं।

हे आत्मन्! यदि तू मोक्ष को सुख चाहता है तो आर्तध्यान और रौद्रध्यान का सर्वथा त्याग कर धर्मध्यान को धारण कर। प्रतिदिन सामायिक कर। उसमें धर्मध्यानका चिंतवन कर, तथा दि० मुनियों की सेवा कर, उनको आहारदान दे, उनकी वैयावृत्ति कर और उनकी आज्ञानुसार चल। ऐसा करने से ही तेरे आत्माका शीघ्र कल्याण होगा। आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन होनेसे तू शीघ्र ही भगवान् जिनेन्द्रदेव का पद प्राप्त कर लेगा। प्रति दिन सामायिक करने से समस्त सन्ताप दूर हो जाते हैं। मन शान्त और आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन हो जाता है।

एकत्वभावना का चिन्तवन

स्वात्मा सदैको म्रियतेऽसहायः,
को जायते कर्मवशात्सदैकः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करोति पापं विषमं सदैको,
भुङ्क्ते तदेकः समयं हि लब्ध्वा ॥७३॥
मोक्षं प्रयाति स्वयमेव चैको,
मोक्षे सदा तिष्ठति सोऽयमेकः।
आत्मा तथा नात्मनि तिष्ठतीत्थं,
तावद्विचारः सुखदश्च कार्यः ॥७४॥

अर्थ—हे आत्मन्! यह आत्मा सदा अकेला ही मरता है। मरते समय इसका कोई सहायक नहीं होता तथा इस संसारमें अपने कर्मके उदयसे सदा अकेला ही जन्म लेता है। यह आत्मा सदा अकेला ही महापाप उत्पन्न करता है और समय पाकर अकेला ही उन कर्मों के उदयसे उत्पन्न होने वाले महान दुःखोंको भोगता है। इसी प्रकार अकेला ही मोक्ष जाता है और अकेला ही अनन्तकाल तक सिद्ध अवस्थामें विराजमान रहता है। हे आत्मन्! जब तक तेरा आत्मा इस प्रकार मोक्षमें पहुँच कर अपने आत्मा में लीन न हो जाय तब तक तू इस सुख देने वाली आत्मा की एकत्वभावना का ही चिन्तवन करता रह।

भावार्थ—यह आत्मा जब तक इस एकत्व भावनाका चिंतवन नहीं करता तब तक ही इस संसारमें पड़ा हुआ दुःख भोगा करता है। एकत्वभावना का चिंतवन करनेसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह आत्मा पर पदार्थोंके ममत्वको छोड़ देता है। कुटुम्बसे ममत्व छोड़ देता है और अकेले आत्माका चिन्तवन करता हुआ उसीमें लीन हो जाता है। इस प्रकार एकत्व-भावनाका चिन्तवन करना मोक्षका कारण है। इसलिए हे आत्मन्! तू भी सदाकाल इस एकत्वभावनाका चिन्तवन कर। इसके चिन्तवन करनेसे अवश्य ही तेरे आत्मा का कल्याण.होगा।

रत्नत्रय को धारण करनेकी प्रेरणा

दृग्बोध-चारित्रसुख-स्वरूपः,
स्वात्मा सदा तेऽस्ति यथार्थदृष्ट्या।
तथाप्यबोधादिति तद्विरुद्धं,
मत्वा व्यथादं कृतवान् कुकर्म ॥७५॥

ज्ञात्वेति तत्कर्मविनाशनार्थं,
दृग्बोध-चारित्र-सुख-स्वरूपः।
स्वात्मेति मत्वा कुरु चित्तशुद्धिं,
स्यात् ते स्वसिद्धि निंजराज्यदात्री ॥७६॥

अर्थ—हे आत्मन्! देख, यदि यथार्थरीतिसे देखा जाय तो यह तेरा आत्मा सदाकाल सम्यग्दर्शनमय है, सम्यग्ज्ञानमय है, सम्यक्चारित्रमय है और अनंतसुख-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वरूप है तथापि हे आत्मन्! तूने अपने अज्ञानके कारण उसे अपने स्वरूपसे विरुद्ध समझा है और इसीलिए तूने महादुःख देने वाले अनेक कुकर्म किए हैं हे आत्मन्! अब तू उन कर्मों को नाश करने के लिए अपने आत्मा को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और अनंतसुखमय समझ और ऐसा समझ कर अपने चित्तको शुद्ध कर। ऐसा करनेसे ही तेरे ही आत्मा की शुद्धता रूप स्वराज्यको देने वाली आत्माकी सिद्धि हो जायगी।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को रत्नत्रय कहते हैं। यह रत्नत्रय आत्माका निजस्वरूप है और इसीलिये यह मोक्षका कारण है। यह आत्मा अनादि कालसे कर्मोंके वशीभूत होरहा है। उन कर्मोंने ही इस आत्माके यथार्थस्वरूपको ढक रखा है।

मोहनीयकर्मने आत्माके सम्यग्दर्शन गुणको ढक रखा है। जब दर्शनमोहनीयकर्म तथा अनन्तानुबन्धी चारित्र-मोहनीयकर्म नष्ट हो जाता है वा उनका उपशम हो जाता है तब आत्मा का सम्यग्दर्शन गुण प्रगट होता है। यह आत्मा का गुण एक प्रकारके प्रकाशके समान है। जैसे प्रकाश होने पर अपने पराये का यथार्थ ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके प्रगट होते ही अपने आत्मा और पर पदार्थों के यथार्थस्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है । इस अनुभवके द्वारा यह आत्मा परपदार्थों का त्याग कर देता है और आत्माके स्वरूपको उपादेय समझ कर उसमें लीन होनेका प्रयत्न करता है ।

सम्यग्दर्शनरूप प्रकाशके साथ आत्माके यथार्थ स्वरूप का जो अनुभव होता है उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं । सम्यग्ज्ञान होने पर पदार्थोंको हेय समझकर उनका सर्वथा त्याग कर देना सम्यक्चारित्र कहलाता है । यह आत्मा पर पदार्थोंके संयोगसे ही वा उनको अपना मान कर ही दुःखी हो रहा है । जब पर पदार्थोंका संयोग छूट जाता है तब यह आत्मा अपने आप सुखी हो जाता है । हे आत्मन् ! यदि तू भी इसी प्रकार सुखी होना चाहता है तो सबसे पहले समस्त पापों का त्यागकर आत्मा को शुद्ध बना । अपने आत्माको शुद्ध बनाना ही अपने आत्माकी सिद्धि कहलाती है ।

आत्माके शुद्धस्वरूपके चिन्तवन की प्रेरणा

स्पर्शादिवर्णात्मकपुद्गलाद्वा,
तवायमात्माखिलभोगसङ्गात् ।
दुःखप्रदाद् बन्धुकलत्रसङ्गाद्,
मुक्तोऽस्ति मिथ्यात्वकषायकाण्डात् ॥७७॥
स्वानन्दसाम्राज्यपदे प्रयुक्तः,
तुष्ट-स्तथात्मीय—चतुष्टयेन ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वेष्टे निजानन्दरसेऽस्ति पुष्टो,
निजे सुनिष्ठो भुवने गरिष्ठः ॥ ७८ ॥
एवं विचारः सुखदः सदैव,
हे वत्स ! कार्यो हि त्वया प्रशान्त्यै।
कुन्थ्वादिना सागरनामकेन,
स्वात्माश्रितेनेति सदा प्रणीतम्।

अर्थ—हे आत्मन् ! तेरा यह आत्मा स्पर्श, रस, गंध, वर्णमय पुद्गलोंके विकारसे सर्वथा रहित है तथा सब प्रकारके भोगोंसे रहित है। इसी प्रकार सर्वदा दुःख देने वाले स्त्री पुत्र भाई बंधु आदिके समागमसे और मिथ्यात्व वा कषायोंके समूहसे सर्वथा रहित है। इन सबसे सर्वथा रहित होकर आत्म-जन्य आनन्दके साम्राज्यके सिंहासन पर विराजमान है। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इन अनन्त चतुष्टयोंसे सदा संतुष्ट रहने वाला है। अत्यन्त स्वादिष्ट वा मिष्ट निजानन्दरस में लीन होने के कारण सदा पुष्ट रहने वाला है, अपने आत्मा में ही सदा लीन रहने वाला है और तीनों लोकों में पूज्य वा सर्वोत्तम माना जाता है। हे आत्मन् ! तुझे अपने परिणामों को सदा शान्त रखने के लिये ऊपर लिखे अनुसार सुख देने वाला विचार सदा करते रहना चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसा श्रीआचार्य श्रीकुन्थुसागर ने निरूपण किया है।

भावार्थ—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये सब पुद्गल-द्रव्यके गुण हैं। आत्मामें ये गुण सर्वथा नहीं हैं। आत्मा पुद्गल के विकार से सर्वथा रहित है। कोई भी संसारी जीव जब मर जाता है तब शरीर यहीं पड़ा रह जाता है और ज्ञानमय आत्मा इसमें से निकल कर अन्यत्र शरीर धारण करने के लिए चला जाता है। इससे भी सिद्ध हो जाता है कि इस शरीर में आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है। शरीर पुद्गलमय है और आत्मा ज्ञानमय है। इसी प्रकार भोगोपभोगोंसे भी आत्मा भिन्न है। क्यों कि संसारमें जितनी भोगोपभोगकी सामग्री है वह सब पुद्गलमय है पुद्गलमय सामग्रीका भोग पुद्गलमय शरीर ही कर सकता है, अमूर्त आत्मा नहीं। इससे सिद्ध होता है कि भोगोप-भोगोंका भोक्ता शरीर ही है आत्मा नहीं।

इसी प्रकार स्त्री, मित्र, बन्धु आदिका सम्बन्ध भी शरीरके साथ है, आत्माके साथ नहीं। पुत्र मित्रादिक सब अपने कर्मके उदयसे उत्पन्न होते हैं और कर्मके उदयके अनुसार ही उनका संयोग वियोग होता रहता है। इस-लिये हे आत्मन्! तू अपने आत्माको इनसे भिन्न होसमझ।

इसी प्रकार मोहनीय कर्मके उदयसे मिथ्यात्व होता है और मोहनीयकर्मके उदयसे ही कषाय होते हैं। कर्म सब

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पौद्गलिक हैं। इसलिये मिथ्यात्व कषायरूप होने वाला उनका उदय भी पौद्गलिक ही है। इस प्रकार विचार करनेसे मिथ्यात्व और कषाय अमासे सर्वथा भिन्न वह आत्मा अतन्तचतुष्टयमय है। अनन्त चतुष्टय आत्माके ही साथ रहता है। हम लोगोंके कर्मोंका आवरण पड़ा हुआ है वह उसे ढक रहा है। उस आवरणके हटते ही वह अनन्त-चतुष्टय अपने आप प्रकट हो जाता है। यह तेरा आत्मा अनन्तचतुष्टयमय होनेके कारण ही अनन्तसुखरूपी साम्राज्यमें लीन रहता है और उसी अनन्तसुखसे सदा पुष्ट बना रहता है। इस प्रकार अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें सदाकाल लीन रहने वाला यह आत्मा लोकत्रयमें सर्वोत्कृष्ट और पूज्य माना जाता है।

हे आत्मन्! तेरा यह आत्मा ऐसे सर्वोत्कृष्ट स्वरूपको धारण करने वाला है। इस प्रकार विचार करता हुआ तू पुद्गलोंके समस्त विकारोंसे अपना ममत्व छोड़, बाह्य विभूतिसे ममत्व छोड़कर उसका त्याग कर, कुटुम्ब वा परिग्रहका ममत्व छोड़कर उसका भी सर्वथा त्यागकर तथा मिथ्यात्व और काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, तृष्णा आदि विकारोंका भी सर्वथा त्याग कर। इन सबका त्याग करनेसे तेरा आत्मा शुद्ध सम्यग्दर्शन और शुद्ध सम्यक्ज्ञा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रित्र को धारण करेगा।

इस प्रकार रत्नत्रयको धारण करनेसे कर्मोंका नाश होगा और अपने आप अनन्तचतुष्टय प्रगट होकर सिद्ध अवस्था प्राप्त होगी जो अनंतानंतकाल तक स्थिर बनी रहेगी। फिर उसमें कभी भी किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकेगा। इस संसार में जीवों की अवस्था में जो परिवर्तन होता है वह कर्म और कषायों के निमित्त से होता है। सिद्ध अवस्थामें कर्म और कषायों का सर्वथा अभाव हो जाता है इसलिए उन सिद्धोंमें फिर कभी भी परिवर्तन नहीं होता।

हे आत्मन्! इस प्रकार चिंतवन करता हुआ तू अपने परिणामोंको निर्मल कर तथा बहुत शीघ्र सिद्ध अवस्था प्राप्त करनेका प्रयत्न कर ऐसा आचार्यवर्य श्रीकुन्थुसागर महाराजका उपदेश है। यही उपदेश आत्मा के लिए कल्याणकारी है।

उपकार स्मरण और ग्रन्थ महात्म्य—

दीक्षागुरो में सुख-शान्तिसिन्धो—
रज्ञानहर्तुश्च सुधर्मसिन्धोः ।
विद्यागुरोरेव कृपाप्रसादाद्,
शास्त्रं मयेदं रचितं पवित्रम् ॥ ८० ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वर्मोक्षदं वांछितदं ततो ये,
ग्रन्थं ह्यमुं शुद्धिकरं जनानाम्।
पठन्ति भक्त्यैव नमन्ति नित्यं,
स्वर्गापवर्गौ भुवि ते लभन्ते ॥ ८१ ॥

अर्थ—मेरी आत्माका कल्याण करने वाले और मुझे जैनेश्वरी दीक्षा देने वाले मेरे दीक्षागुरु सुख और शान्तिके सागर ऐसे आचार्यवर्य श्री शान्तिसागरजी महाराज हैं। तथा मेरे अज्ञान को दूर करने वाले मेरे विद्यागुरु आचार्य सुधर्मसागर जी महाराज हैं। इन दोनों गुरुओं की असीम कृपा के प्रसाद से ही मैं इस पवित्र ग्रंथ की रचना कर सका हूँ।

यह पवित्र ग्रंथ स्वर्ग मोक्ष को देने वाला है और समस्त जीवों की आत्माओं को शुद्ध करने वाला है। इस प्रकार इस ग्रन्थ को जो लोग भक्ति पूर्वक पढ़ते हैं और उसे सदा नमस्कार करते हैं वे शीघ्रही स्वर्ग मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार सामायिक और प्रतिक्रमण आदिके करनेसे आत्मा पवित्र होता है उसी प्रकार इस प्रतिक्रमणसार ग्रन्थको पढ़नेसे आत्मा पवित्र हो जाता है तथा आत्माके पवित्र होनेसे ही स्वर्ग मोक्षकी प्राप्ति होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ख्यात्यादिहेतोः रचितो मयायं,
ग्रन्थो न किन्तु स्वपरात्मशान्त्यै ।
आबाल - वृद्धादि - हितार्थमेव,
सन्तापहर्त्रा वरसूरिणेति ॥ ८२ ॥

अर्थ—समस्त जीवोंका सन्ताप दूर करने वाले और श्रेष्ठ आचार्य ऐसे मुझ कुन्थुसागर ने यह ग्रन्थ अपनी प्रसिद्धि के लिए नहीं बनाया है किंतु अपने आत्माको तथा अन्य जीवोंको शान्ति पहुँचानेके लिए ही बनाया है । अथवा बालक, वृद्ध, युवा आदि समस्त स्त्री पुरुषों का हित करनेके लिए ही इस ग्रन्थकी रचना की है ।

ग्रन्थं ह्यमुं वाञ्छितदं हि भक्त्या,
पठन्ति ये केऽपि सदैव तेभ्यः ।
स्वर्मोक्षलक्ष्मीं वृषभादिवीरा,
यच्छन्तु शान्तिं वरसूरयोऽपि ॥८३॥

अर्थ—जो भव्य पुरुष इच्छानुसार फल देने वाले इस ग्रन्थको भक्तिपूर्वक पढ़ते पढ़ाते हैं उनके लिए चौबीसों तीर्थंकर तथा कुन्दकुन्दादिक समस्त आचार्य शान्ति तथा स्वर्गमोक्ष की लक्ष्मी प्रदान करें ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीकुन्थुनाम्नः सुखशान्तिमूर्ते-
र्ग्रन्थः सदायं वरसूरिणोऽस्ति।
दुःखं प्रजानामपहृत्य सौख्यं,
ददातु चेत्थं मम मानसं हि ॥ ८४ ॥

अर्थ—सुख और शान्तिकी उत्कृष्टमूर्ति, सर्वश्रेष्ठ आचार्य श्रीकुंथुसागर महाराजका बनाया हुआ यह ग्रन्थ सदा समस्त प्रजाका दुःख दूर करे और समस्त जीवोंको परम सुखकी प्राप्ति करे। यही मुझ कुन्थुसागरका अभिप्राय है।

भावार्थ—आचार्य श्रीकुन्थुसागर कहते हैं कि इस ग्रन्थके पठन पाठनसे समस्त जीवोंका दुःख दूर हो तथा समस्त जीवोंको सुखकी प्राप्ति हो, यही मेरी भावना है और उसी भावनाको लेकर मैंने इस पवित्र ग्रन्थकी रचना की है।

॥ इति प्रतिक्रमणसारः ग्रन्थः समाप्तः ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संक्षिप्त निश्चय लघुप्रतिक्रमण

नत्वा जिनं वांच्छितदं सदात्र,
संक्षेपसामायिककर्तुरर्थम् ।
संक्षेपरीत्या सुखदं विधानं,
सामायिकादेः प्रतिपाद्यते हि ॥ ८५ ॥

अर्थ—सदा इच्छानुसार फल देने वाले जिनेंद्रदेवको नमस्कार कर इच्छुकों के लिये अत्यन्त संक्षेपरीतिसे सामायिक प्रतिक्रमण करने के लिए अत्यन्त संक्षेपसे ही सामायिक आदिकी सुखदायक विधिका मैं निरूपण करता हूँ ।

स्वात्मबाह्ये पदार्थे यो, नित्येऽनित्ये प्रियेऽप्रिये ।
साम्यं दृष्ट्वा स्थितो ह्यासोच्चिदानंदे हि नौमि तम्

अर्थ—इस संसारमें अपने आत्मासे भिन्न नित्य; अनित्य; प्रिय और अप्रिय जो पुद्गलादिक पदार्थ हैं उन सबको जो समान दृष्टि से देखता है और जो स्वयं चिदानन्दस्वरूप अपने शुद्ध आत्मामें विराजमान रहता है ऐसे महापुरुषके लिए मैं नमस्कार करता हूँ ।

भावार्थ—इसमें समता धारण करने वालों को नमस्कार किया है । समता धारण करना संसारको नाश करनेका, वा मोक्ष प्राप्त करनेका मूल कारण है । क्योंकि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जहां राग द्वेष दोनोंका सर्वथा अभाव होगा वहां ही समता धारण हो सकेगी। समता धारण करने वाला महापुरुष लाभ और अलाभ दोनों में समान परिणाम रखता है तथा सुख और दुःखमें भी समान परिणाम रखता है। समता धारण करने वाला पुरुष अपने आत्माको छोड़ कर अन्य समस्त पदार्थों को हेय समझता है इसलिये वह लाभ वा सुख होने पर हर्षित और अलाभ वा दुःख मिलने पर संक्लिष्ट नहीं होता। केवल अपने आत्माको ही उपादेय समझ उसीमें सदा लीन रहता है। इसप्रकार वह वीतराग महा-साधु निश्चय रीति से सदा प्रतिक्रमण करता रहता है। ऐसे महापुरुषके लिए मैं नमस्कार करता हूँ। ऐसा महापुरुष शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है इस प्रकार समताका स्वरूप चिंतवन करना लघुप्रतिक्रमण है।

वन्दना गुण का वर्णन—

अर्हत्सिद्धादिपूज्यानां, त्रिकाले भक्तिवन्दनाम्।
कुर्वन् यो निजराज्येऽभूत्स्थिरस्तं नौमि मोक्षदं॥

अर्थ—भगवान् अरिहन्तदेव, भगवान् सिद्धपरमेष्ठी वा आचार्य, उपाध्याय, साधु ये पंच परमेष्ठी सदा पूज्य हैं। जो पुरुष इन पांचों परमेष्ठियोंकी प्रातः, मध्याह्न वा सायं तीनों कालोंमें भक्तिपूर्वक वन्दना करता है और अपने आत्माकी शुद्धतारूप स्वराज्यमें सदाकाल स्थिर रहता है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसे मोक्षाधिकारी महासाधु को मैं नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—इसमें वंदना करने वाले को नमस्कार किया है। वंदना किसी एक तीर्थङ्कर की जाती है अथवा किसी एक सिद्धपरमेष्ठी की की जाती है अथवा किसी एक साधुकी जाती है। यह वंदना हाथ जोड़ कर मस्तक झुकाकर क्रिया-पूर्वक अवश्य करनी चाहिए। अथवा किसी एक तीर्थंकरकी वा एक सिद्ध परमेष्ठी की वा किसी एक आचार्य, उपाध्याय, साधुकी स्तुति करना भी वन्दना कहलाती है।

जो पुरुष इस विधिके अनुसार वन्दना करता हुआ अपने शुद्ध आत्मामें लीन रहता है वह महासाधु महापुरुष कहलाता है। पंच परमेष्ठियोंमें वह गाढ़ भक्ति रखता है और अपने आत्माको तन्मय वना देता है। इसीलिए उसका आत्मा अत्यन्त निर्मल हो जाता है और वह सबके द्वारा पूज्य व नमस्करणीय हो जाता है। ऐसे पुरुषको नमस्कार करना और तन्मय होना निश्चय लघुप्रतिक्रमण है।

स्तुति का स्वरूप

वृषभादिजिनानां यः, याति गुणस्तवादिकम् ।
मनोवाक्कायशुद्ध्या हि, स्तौमि तं तृप्तमात्मनि ॥

अर्थ—जो महापुरुष अपने मन वचन कायकी शुद्धतापूर्वक भगवान् वृषभदेवको आदि लेकर महावीर स्वामी पर्यन्त चौवीसों तीर्थंकरोंके गुणोंकी स्तुति करता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है और अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें सदा तृप्त रहता है ऐसे महापुरुषकी मैं भी स्तुति करता हूँ।

भावार्थ—जिनेन्द्रदेव के समस्त गुणों का वर्णन करना या भगवान् जिनेन्द्रदेव के एक हजार आठ नामों की व्युत्पत्ति पूर्वक पूजन करना अथवा चौबीसों तीर्थंकरों की स्तुति करना स्तुति कहलाती है। जो व्यक्ति भक्ति पूर्वक स्तुति करता है वह उस पूज्य पुरुष के गुणों में तन्मय हो जाता है। उस समय वह समस्त पाप कर्मों का नाश करता हुआ आगामी कर्मोंसे बचता हुआ अनन्त कर्मों की निर्जरा करता है।

इस प्रकार वह अपने आत्मा को निर्मल बनाता हुआ तीर्थंकरादिकों के समस्त गुणों को प्राप्त कर लेता है। ऐसा महापुरुष अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप में ही सदा तृप्त रहता है और अन्य पदार्थों से अपने आत्माको हटा लेता है। ऐसे महापुरुष की स्तुति वा बंदना करना भी निश्चय प्रतिक्रमण है। क्योंकि ऐसे पुरुष की बंदना करनेसे उसके गुणों में अनुराग बढ़ता है तथा अनुराग होनेसे उन गुणोंको धारण करता हुआ तन्मय हो जाता है इसीलिए इस स्तुति को भी प्रतिक्रमण कहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिक्रमण का वर्णन—

द्रव्यक्षेत्रादिभावेषु, कृतदोषादिवर्जनम्।
यः प्रतिक्रमणं कुर्वन्, स्वं वेत्ति स्तौमि तं मुदा॥

अर्थ—जो पुरुष द्रव्य-क्षेत्र, काल भाव आदिमें लगे हुए दोषोंका पश्चात्ताप करता हुआ उनका त्याग करता है और इस प्रकार प्रतिक्रमण करता हुआ आत्माके स्वरूपको जानता है ऐसे महापुरुषको मैं प्रसन्नतापूर्वक नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—इसमें प्रतिक्रमण करने वाले को नमस्कार किया है। द्रव्य, क्षेत्र, काल भावों में अपना किसी प्रकार का अपराध वा दोष हो जाय तो अपने आत्मा की निन्दा करके व अपने आत्मा को धिक्कार देकर मन, वचन, काय के द्वारा उस अपराध वा दोष को शुद्ध करना, प्रायश्चित्त लेना और आगे के लिये उस दोष का सर्वथा त्याग कर देना प्रतिक्रमण कहलाता है।

प्रतिक्रमण करने वाला पुरुष प्रथम तो दोषोंको लगाता ही नहीं है। यदि कारणवश कोई दोष लग भी जाता है तो वह अपने आत्माकी निंदा, गर्हा वा पश्चा- [illegible] रके उस दोषको दूर करता है। इस प्रकार अपने [illegible] ो निर्दोष बनाता हुआ अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन रहनेका प्रयत्न करता है। इसप्रकार समस्त पापोंसे रहित होकर और समस्त कर्मोंको नाश कर शीघ्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही मुक्त हो जाता है। ऐसे महापुरुषकी स्तुति करना और उसके गुणोंको धारण करना निश्चय प्रतिक्रमण कहलाता है।

प्रत्याख्यान का वर्णन

सावद्यद्रव्यभावानां, प्रत्याख्यानं विधाय यः।
निरवद्येषु भावेषु, यतते नौमि तं स्थिरम् ॥९०॥

अर्थ—जो महापुरुष पापसहित द्रव्यभावादिकों का त्याग करके निर्दोष वा पापरहित भावोंमें स्थिर होनेका प्रयत्न करता है ऐसे महापुरुष को मैं नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—इसमें प्रत्याख्यान करने वालेको नमस्कार किया है। जिसके नाम लेनेसे पाप लगता है, जिस स्थापना वा पूजा आदि करनेमें पाप लगता है, जिस द्रव्यको काम में लानेमें पाप लगता है, जिस क्षेत्रके जानेमें पाप लगता है, जो काल अशुभ गिना जाता है और जो भाव अशुभ वा पापरूप कहलाते हैं, उन सबका जो त्याग कर देता है।

और जिस नामके लेनेसे पुण्य होता हो वा पाप नष्ट होते हों, जिस स्थापनाके करनेमें पुण्य होता हो वा पाप नष्ट होते हों, जिस द्रव्यके सेवन करनेमें पाप नष्ट होते हों, जिस क्षेत्रमें पाप नष्ट होते हों, जिस कालमें पाप नष्ट होते हों और जिन भावोंसे पाप नष्ट होते हों, उन द्रव्य क्षे काल, भावोंको धारण करने का प्रयत्न करता है और जो अपने आत्मामें ही स्थिर बने रहने का प्रयत्न करता है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह पुरुष महापुरुष कहलाता है। ऐसे पुरुषको नमस्कार करना निश्चय प्रतिक्रमण कहलाता है।

भगवान् अरिहन्त देवका वा चौबीस तीर्थङ्करोंका नाम लेनेसे पापोंका नाश होता है। उनकी स्थापना करना पापोंका नाश करता है। जिनप्रतिमा, जिनालय, जैनशास्त्र आदि पापोंके नाश करने वाले द्रव्य हैं। सम्मेदशिखर आदि पुण्यक्षेत्र पाप नाशक क्षेत्र हैं। तीर्थंकरोंके कल्याणकों के समय पुण्यकाल वा पापों के नाशक काल कहलाते हैं। और आत्माके शुद्धभाव पापोंके नाशक भाव कहलाते हैं। जिस पापी मनुष्यका नाम लेनेसे पाप लगता है वह अशुभ नाम है। जिस क्षेत्रमें जानेसे रत्नत्रयका नाश होता है वह अशुभ क्षेत्र है। जिस स्थापनाके करने से मिथ्यात्वकी वा कषायोंकी वृद्धि होती है, वह अशुभ द्रव्य है। ग्रहण-काल, उल्कापातकाल आदि अशुभ काल हैं। और जिन भावोंसे पापकर्मोंका आस्रव होता है वह अशुभ भाव हैं।

इस प्रकार अशुभ द्रव्यादिकका वा शुभ द्रव्यादिकका स्वरूप समझ कर अशुभ द्रव्यादिकका सर्वथा त्याग कर आत्मामें लीन होना निश्चय प्रतिक्रमण है। ऐसे प्रतिक्रमण कर्त्ता को नमस्कार करना भी निश्चय प्रतिक्रमण है।

व्युत्सर्ग का स्वरूप

स्वात्मा चिन्मयमात्रोऽस्ति, मम ज्ञात्वेति चिद्गतः।
तन्वादे निर्ममः सन् यो, लीनः स्वात्मनि नौमि तं ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ—यह मेरा आत्मा शुद्ध चैतन्यरूप है इस प्रकार उसके चैतन्यगुणको जानकर शरीर आदि परद्रव्योंसे ममत्वका सर्वथा त्याग कर जो अपने आत्माके शुद्ध स्वरूप में लीन रहता है ऐसे महापुरुषको मैं नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—इसमें व्युत्सर्गगुणको धारण करने वाले के लिए नमस्कार किया है। स्तुति, वंदना आदि कार्यों में शरीर से ममत्वका त्याग कर देना तथा अन्तरङ्ग बहिरङ्ग लक्ष्मीसे सुशोभित पंच परमेष्ठियोंका स्मरण करना अथवा शास्त्रोंमें लिखी हुई विधिके अनुसार कुम्भक, पूरक, रेचक के द्वारा श्वासोछ्वासको रोक कर पंच परमेष्ठीका जप करना कार्योत्सर्ग वा व्युत्सर्ग कहलाता है। व्युत्सर्ग करने-वाला पुरुष अपने शरीरसे ममत्वका सर्वथा त्याग कर देता है और अपने आत्माके शुद्ध भावों में वा शुद्ध स्वरूपमें लीन रहता है। इस प्रकार वह महात्मा बहुत शीघ्र कर्मों को नाश कर सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेता है। ऐसे महापुरुषको नमस्कार करना, उसके गुणोंमें अनुराग रखना वा उसका तथा उसके गुणोंका पूजन करना आदि सब निश्चय व्युत्सर्ग कहलाता है और इसीको निश्चयप्रतिक्रमण कहते हैं। इस प्रकार निश्चय लघुप्रतिक्रमणका स्वरूप कहा।

॥ इति निश्चयलघुप्रतिक्रमणं समाप्तम् ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अगलित जल के जीव

जल के एकहि बिन्दु में, रहते जीव अमान ।
बिन छाने वे सर्व ही, मरते वीर बखान ॥

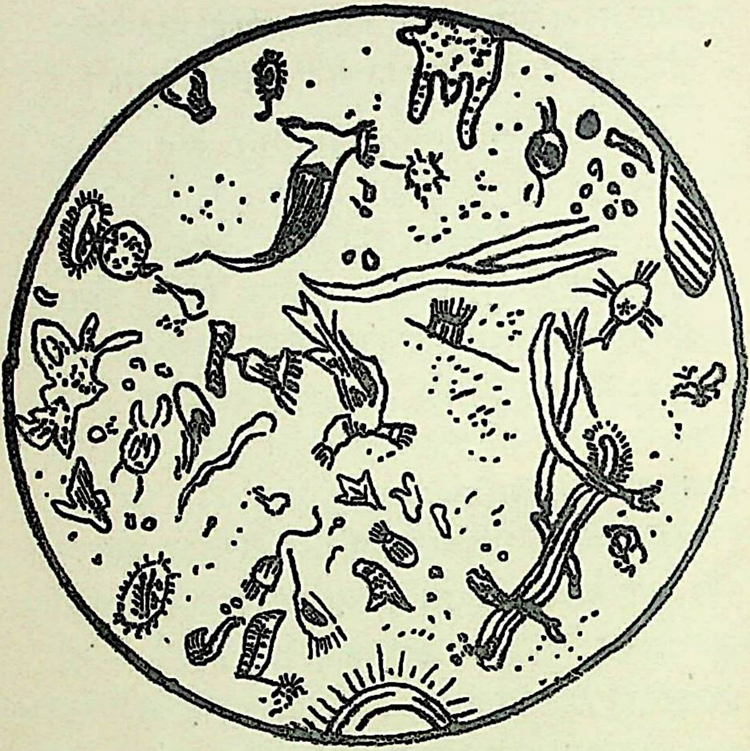

अहिंसा के अनन्य अवतार भगवान् महावीर ने अपने दिव्य-ज्ञान से एक ही जल-बिन्दु में असंख्य जलचर त्रसजीव बतलाये हैं। आज भी प्रसिद्ध वैज्ञानिक केप्टन स्कोर्सबी सा० ने खुर्दबीन से देखकर गवर्नमेंट प्रेस इलाहाबाद से मुद्रित अपनी "सिद्धपदार्थविज्ञान" नामक पुस्तक में एक जल-बिन्दु में ३६४५० चलते हुए त्रसजीव साबित किये हैं। इन जीवों की रक्षा के लिये पानी छानकर पीने का उपदेश है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ प्रशस्ति-

मोक्षं गते महावीरे, स्वर्गमोक्षसौख्यदायके।
चतुर्विंशतिसंख्याते, कौ षट्षष्ठ्यधिके शुभे॥
प्रतापसिंहभूपस्य, धर्मनीतिदयायुजः।
धनरत्नसमाकीर्णे, बड़ौदानगरे वरे॥ ६३॥
मार्गशीर्षसिते पक्षेऽष्टम्यां मङ्गलवासरे।
ध्वजादिभूषिते स्थित्वा, वृषभेशजिनालये॥६४॥
स्वानन्दसौख्यतुष्टेन, दिग्वस्त्रधारिणा सता।
शान्तिसागरशिष्येण, कुन्थुसागरसूरिणा॥६५॥
ग्रन्थोऽयं शान्तिदः प्रोक्तः, प्रतिक्रमणसारकः।
नित्यं कामदः भूमौ, भूयादाचन्द्रतारकम्॥६६॥

अर्थ—स्वर्ग मोक्षके सुख दायक भगवान् महावीर स्वामीके मोक्ष चले जानेके चौबीससौ छयासठवें वर्षमें धर्मनीति और दयाके पालक महाराज प्रतापसिंहके धन और रत्नोंसे परिपूर्ण श्रेष्ठ बड़ौदा नगरमें ध्वजा तोरण आदिसे सुशोभित श्रीऋषभ जिनालयमें मार्गशीर्ष शुक्ल अष्टमी मंगलवारके दिन अपने आत्मजन्य आनन्द और सुखसे सदा संतुष्ट, दिशारूपी वस्त्र धारण करने वाले और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्यवर्य श्रीशांतिसगरके शिष्य आचार्य कुन्थुसागरने सर्वशान्तिदायक यह श्रावकप्रतिक्रमणसार नामका ग्रंथ लिखा है। जबतक सूर्य चंद्रमा रहे तब तक यह ग्रन्थ समस्त जीवोंकी इच्छाओंको पूर्ण करता रहे।

कल्लोल से चतुर्विध संघ का विहार—

जीवनलालः पद्मेशो, गुरुभक्तः प्रभावकः ।
कस्तूरचन्द्रः पूतात्मा, वाडीलालो विचक्षणः ॥
स्वयंसेवककार्यार्थी, कान्तिलालः कलानिधिः ।
श्रीमान् छगनलालश्च, केशवलालो धार्मिकः ॥
चैत्रशुद्धचतुर्दश्या-माचार्यं कुन्थुसागरम् ।
तारंगातीर्थयात्रार्थं, कृतवन्तः सुप्रार्थनाम् ॥

अर्थ—संघपति तीर्थभक्त समाजभूषण सेठ जीवनलालजी गोपालदास बखारिया, सेठ कांतिलाल गोपालदासजी बखारिया, सेठ वाडीलाल जगजीवनदासजी, सेठ कस्तूरचन्द ईश्वरलालजी, सेठ केशवलाल जगजीवनदासजी तथा कांतिलालजी भावनगर वाले, सेठ छगनलालजी बखारिया और सेठ जयसिंह भाई आदि धर्मकी प्रभावना करने वाले तथा गुरुभक्त कल्लोल निवासी सद्गृहस्थ श्रावकोंने चैत्रशुक्ला चतुर्दशीके दिन आचार्य कुन्थुसागर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महाराजसे तारंगा तीर्थकी यात्रा करनेके लिए तथा संघके साथ चलनेके लिए प्रार्थना की।

स्वीकृत्य प्रार्थनां तेषां, पूर्वोक्तैः श्रावकै र्वरैः।
श्राविकाभिः समं भव्यैः, वाद्यघोषसमन्वितैः ॥
बड़ोदापोलिसै र्वर्गैः, कामदाज्जिनमन्दिरात्।
शुभे दिनेऽचलन्मार्गे, भव्यान् संबोधयन् सदा ॥

अर्थ—उन सब श्रावकोंकी प्रार्थना स्वीकार करके समस्त भव्य जीवोंको सदा श्रेष्ठ उपदेश देते हुये वे आचार्य श्री कुन्थसागरजी महाराज उन सब भव्य श्रावकों के साथ, अनेक श्राविकाओंके साथ, बेंडबाजेके साथ, बड़ोदाकी पुलिसके साथ, समस्त इच्छाओंको पूर्ण करने वाले जिनालयसे किसी शुभ दिनको देख कर रवाना हुये।

पेथापुरनृपै र्भक्त्या, स्वागतं स्वामिनः कृतम्।
तत्र संबोध्य भूपादीन्, चचालाग्रे कृपानिधिः ॥

भावार्थ—पेथापुर पहुँचने पर वहांके राजा साहब श्री फतहसिंहजी महाराजने भक्तिपूर्वक पूज्य आचार्य महाराजका स्वागत किया। कृपाके सागर आचार्य महाराजने वहांके महाराजको तथा अन्य समस्त लोगोंको श्रेष्ठ उपदेश दिया और फिर संघसहित वहाँसे आगे चले।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सावरमतितीरस्थैः, श्रावकैरलुवानृपैः ।
स्वागतं सूरिवर्यस्य, कृतं दानार्चनादिकम् ।।१०३

अर्थ—आगे चलते हुए सावरमतिके किनारेके श्रावकोंने तथा अलुवा नरेश अर्जुनसिंहने आचार्य महाराज का स्वागत तथा पूजाकर दान धर्म किया ।

सूरिवर्योऽपि तत्रत्यान्, सम्बोध्यैव ततोऽचलत् ।
मार्गे ध्यानं तपः कुर्वन्, सन् माणिकपुरं गतः ।।१०४।।

अर्थ—आचार्य श्रीकुन्थुसागरजीने वहाँके सब लोगोंको सदुपदेश दिया और फिर वे वहांसे चल कर मार्गमें ध्यान और तपश्चरण करते हुये माणिकपुर नगरमें पहुँचे ।

प्रवीणसिंहभूपैश्च, तत्रत्यैः सर्वधार्मिकैः ।
अनर्घ्यं रत्नकं मत्त्वा, स्वागतं भक्तितः कृतम् ।।१०५

अर्थ—वहां पर वहांके महाराज प्रवीणसिंहजीने तथा वहांके समस्त धर्मात्मा बंधुओंने आचार्यवर्य श्रीकुन्थुसागरको अमूल्य रत्न समझकर भक्तिपूर्वक उनका स्वागत किया ।

तत्र सम्बोध्य भूपादींस्ततः प्राप बलासणम् ।
नृपै र्नागरिकैः सर्वैः, स्वागतं शान्तिदं कृतम् ।।१०६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ—आचार्य महाराजने वहांके महाराज तथा भव्यजीवोंको धर्मका उपदेश दिया। तदनन्तर वहाँसे चलकर बलासणा स्टेटमें पहुँचे। वहांके महाराज शिवसिंहजी ने तथा जनता ने आपका स्वागत किया।

भव्यान् सम्बोध्य तत्रत्यान्, तारंगामेदिनीं गतः।
मोक्षं गते महावीरे, स्वर्मोक्षसौख्यदायके ॥१०७

चतुर्विंशतिसंख्याते, पञ्चषष्ठ्यधिके शते।
वैशाखशुक्लपक्षे हि, मानस्तम्भमहोत्सवम् ॥१०८

दृष्ट्वात्मशान्तये तत्र, स्थितवान् कतिचिद्दिनम्।
ततोऽचलत्तपः कुर्वन्, पावागढं सुखप्रदम् ॥१०९

अर्थ—आचार्य महाराजने वहांके समस्त भव्यजीवों को श्रेष्ठ उपदेश दिया और फिर वे वहांसे चलकर तारंगा पर्वतकी भूमि पर पहुँचे। वीर नि० संवत् २४६५ वैसाख शुक्ला तृतीयाके दिन आचार्य महाराजने वहांकी मानस्तम्भ प्रतिष्ठा देखी और फिर अपने आत्माको शांति पहुँचानेके लिए कुछ दिन वहां रहे। तदनन्तर वे वहांसे चले और मार्गमें तपश्चरण करते हुए सुखप्रद पावागढ पर्वतकी भूमि पर पहुँचे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य महाराजने वहांपर वर्षायोग धारण किय और सुखपूर्वक वर्षायोगको समाप्त कर वहांसे चले। तथा मार्गमें धर्मकी प्रभावना करते हुए आचार्य महाराज बड़ौदा पहुँचे।

वागोड़िया महल, वही वारदाई साहब धर्मनिष्ठ धर्मपरायण श्री एफ. एस. काले साहब तथा उनकी धर्मपत्नी विदुषी सुशीला बहिनने बड़ौदा राज्यमें भी भक्तिपूर्वक आचार्य महाराजका स्वागत किया।

बड़ौदावासिभिः भक्तैः, सद्राज्यपुरुषैस्तथा।
नानावाद्यै र्मनोज्ञैश्च, ध्वजचामरतोरणैः ॥११२॥
जयध्वनिं प्रकुर्वद्भिः, स्वामिनः स्वागतं कृतम्।
सूरिवर्योऽपि तत्रत्यान्, सम्बोध्यैव ततोऽचलत् ॥

अर्थ—जब महाराज बड़ौदा नगरमें पहुँचे तब वहांके समस्त श्रावकोंने तथा बड़ौदा के दीवानसाहब सर कृष्णमाचार्य सी. आई. ई. ने और अन्य समस्त राजकर्मचारियोंने अनेक प्रकारके मनोहर बाजोंके साथ तथा अनेक प्रकारकी ध्वजा चमर तोरण आदि उपकरणोंके साथ जय-जयकार करते हुए आचार्य महाराज का श्रेष्ठ स्वागत किया।

* समाप्त *

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi